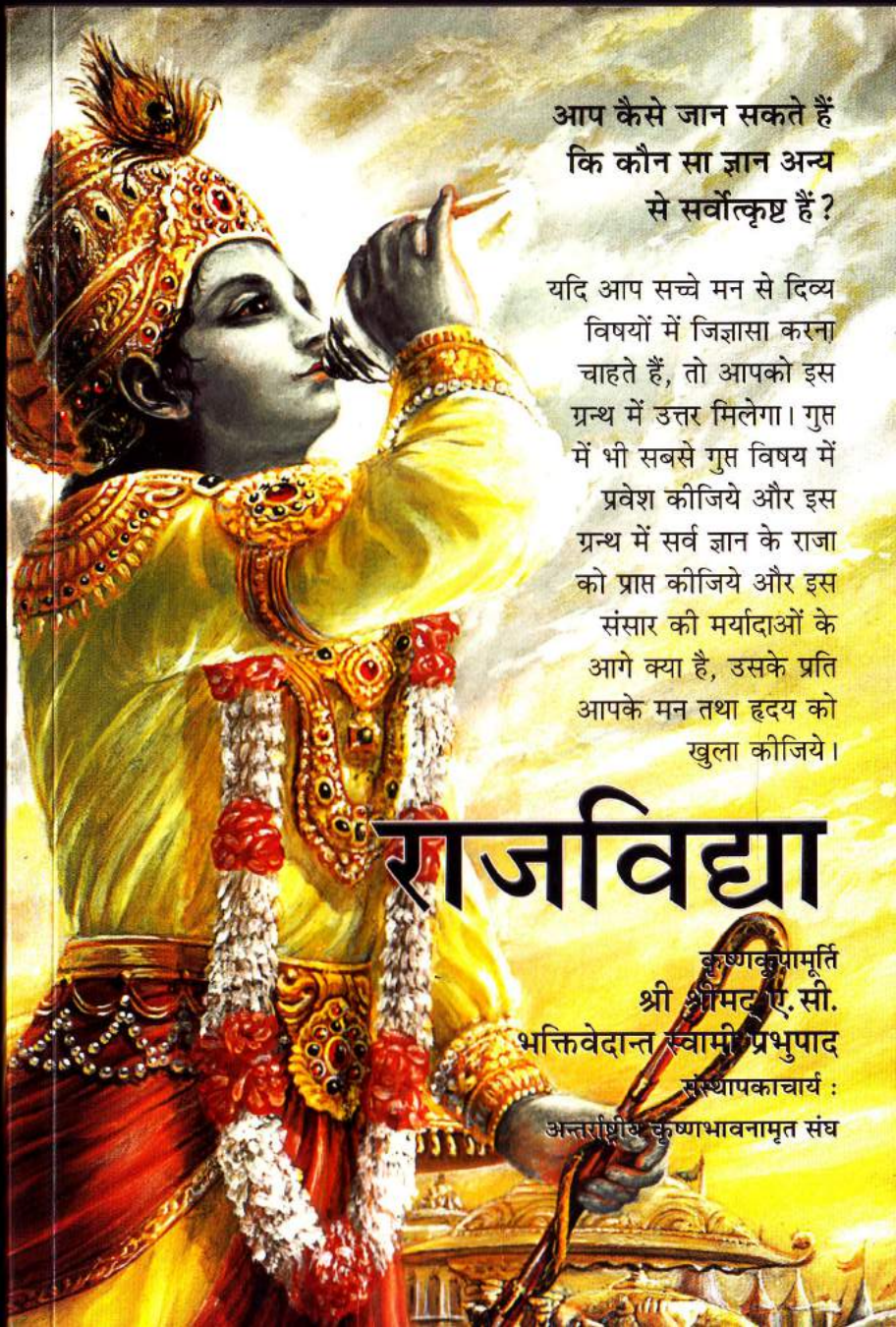

आप कैसे जान सकते हैं कि कौन सा ज्ञान अन्य से सर्वोत्कृष्ट हैं?

यदि आप सच्चे मन से दिव्य विषयों में जिज्ञासा करना चाहते हैं, तो आपको इस ग्रन्थ में उत्तर मिलेगा। गुप्त में भी सबसे गुप्त विषय में प्रवेश कीजिये और इस ग्रन्थ में सर्व ज्ञान के राजा को प्राप्त कीजिये और इस संसार की मर्यादाओं के आगे क्या है, उसके प्रति आपके मन तथा हृदय को खुला कीजिये।

राजविद्या

कृष्णकृपामूर्ति
श्री श्रीमद् ए. सी.
भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद
संस्थापकाचार्य :
अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ

इस ग्रंथ की विषयवस्तु में जिज्ञासु पाठकगण अपने निकटस्थ किसी भी इस्कॉन केन्द्र से अथवा निम्नलिखित पते पर पत्र-व्यवहार करने के लिए आमंत्रित हैं :

भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट
हरे कृष्ण धाम, जुहू
मुंबई ४०० ०४९

वेब / ई-मेल :
www.indiabbt.com
admin@indiabbt.com

Rāja-vidyā, The King of Knowledge (Hindi)

1st printing : 5,000 copies
2nd to 12th printings : 1,77,000 copies
13th Printing, September 2012 : 50,000 copies

© १९८४ भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट
.सर्वाधिकार सुरक्षित

ISBN : 978-93-82176-58-9

प्रकाशक की अनुमति के बिना इस पुस्तक के किसी भी अंश को पुनरुत्पादित, प्रतिलिपित नहीं किया जा सकता। किसी प्राप्य प्रणाली में संग्रहित नहीं किया जा सकता अथवा अन्य किसी भी प्रकार से चाहे इलेक्ट्रोनिक, मेकेनिकल, फोटोकॉपी, रिकार्डिंग से संचित नहीं किया जा सकता। इस शर्त का भंग करने वाले पर उचित कानूनी कार्यवाही की जाएगी।

भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित एवं मुद्रित।

ET6N

विषय-सूची

१. राजविद्या : ज्ञान का राजा १
२. संसार के परे का ज्ञान २१
३. कृष्ण की शक्तियों का ज्ञान ३०
४. महात्माओं के माध्यम से विद्या ४९
५. परम्परा : गुरु-शिष्य परम्परा से प्राप्त ज्ञान ६४
६. कृष्ण के प्राकट्य तथा कार्यों का ज्ञान ८१
७. गुरु में श्रद्धा तथा कृष्ण-शरणागति रूपी ज्ञान ९५
८. कृष्ण के ज्ञान सहित होने वाला कर्म १२१
लेखक-परिचय १४१

१

राजविद्या : ज्ञान का राजा

श्रीभगवानुवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥

"श्रीभगवान् ने कहा—प्रिय अर्जुन! तुम मुझसे कभी द्वेष नहीं करते हो, इसलिए मैं तुम्हें यह अत्यन्त गोपनीय ज्ञान प्रदान करूँगा, जिसे जानकर तुम भौतिक अस्तित्व के क्लेशों से मुक्त हो जाओगे।" (*भगवद्गीता* ९.१)

भगवद्गीता के नवम अध्याय के ये प्रारम्भिक शब्द सूचित करते हैं कि परम भगवान् बोल रहे हैं। यहाँ पर श्रीकृष्ण को भगवान् कहा गया है। *भग* का अर्थ है 'ऐश्वर्य' और *वान्* का अर्थ है 'से युक्त'। हमें ईश्वर की कुछ संकल्पना तो है, किन्तु ईश्वर से क्या तात्पर्य है इस विषय पर वैदिक साहित्य में सुनिश्चित उल्लेख एवं परिभाषाएँ दी गई हैं। वहाँ उन्हें एक शब्द—भगवान्—में वर्णित किया गया है। भगवान् समस्त ऐश्वर्यों से युक्त हैं—सम्पूर्ण ज्ञान, धन, शक्ति, सौन्दर्य, यश तथा वैराग्य। जब

हम किसी एक व्यक्ति में इन सारे ऐश्वर्यों को पूर्ण रूप में पाते हैं, तो हमें यह समझ लेना चाहिए कि वे भगवान् हैं। यों तो अनेक धनी, ज्ञानी, प्रसिद्ध, सुन्दर तथा शक्तिमान् व्यक्ति हैं, किन्तु कोई भी व्यक्ति एकसाथ इन सारे ऐश्वर्यों से युक्त होने का दावा नहीं कर सकता। केवल कृष्ण स्वयं इन ऐश्वर्यों से पूर्ण रूप से युक्त होने का दावा करते हैं।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥

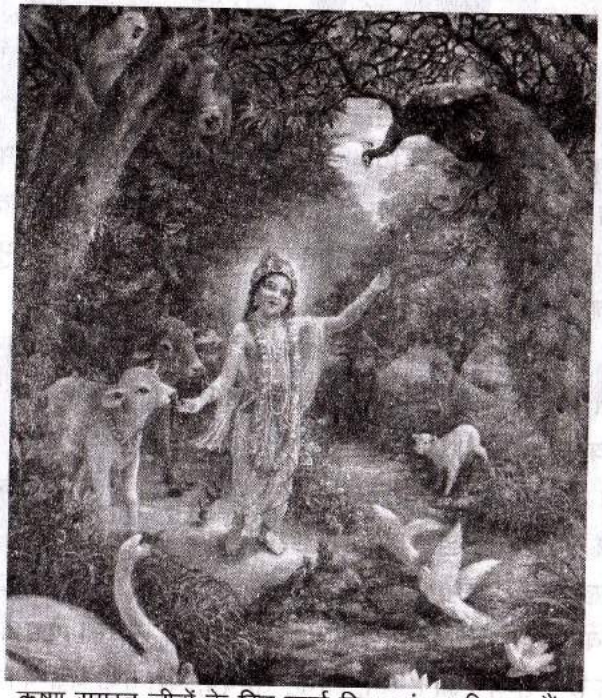

कृष्ण समस्त जीवों के हित कर्ता मित्र एवं शुभचिन्तक हैं।

"मुझे समस्त यज्ञों और तपों का परम भोक्ता, समस्त लोकों तथा देवताओं का परमेश्वर और समस्त प्राणियों का हितकर्ता तथा शुभचिन्तक जानकर ऋषिगण भौतिक संसार के दुःखों से शान्ति प्राप्त करते हैं।" (*भगवद्गीता* ५.२९)

यहाँ पर कृष्ण स्वयं को समस्त कार्यकलापों के भोक्ता तथा समस्त ग्रहमंडलों के स्वामी (*सर्वलोकमहेश्वरम्*) घोषित करते हैं। कोई व्यक्ति विस्तृत भूखंड का स्वामी होने के कारण गर्व का अनुभव कर सकता है, किन्तु कृष्ण स्वयं को समस्त लोकों के

कृष्ण समस्त ग्रहमंडलों के स्वामी हैं।

स्वामी होने का दावा करते हैं। कृष्ण अपने को समस्त जीवों के मित्र होने का भी दावा करते हैं (*सुहृदं सर्वभूतानाम्*)। जब कोई व्यक्ति यह समझ लेता है कि भगवान् प्रत्येक वस्तु के स्वामी, प्रत्येक व्यक्ति के मित्र तथा सर्वस्व के भोक्ता हैं, तो वह अत्यन्त शान्त हो जाता है। शान्ति का वास्तविक सूत्र यही है। जब तक मनुष्य यह सोचता है कि 'मैं स्वामी हूँ' तब तक उसे शान्ति नहीं मिल सकती। भला स्वामित्व का दावा कर सकने की क्षमता किसकी है? कुछ ही सदियों पूर्व, रेड इंडियनों को अमेरिका का स्वामी माना जाता था। आज अपने जमाने में हम उसके स्वामित्व का दावा कर रहे हैं, किन्तु हो सकता है कि अगले चार सौ वर्षों या हजार वर्षों में शायद कोई दूसरा उसका स्वामी होने का दावा करने लग जाये। भूमि तो यहीं है, हम सब यहाँ आते हैं और अपने को इसका स्वामी होने का झूठा दावा करते हैं। मिथ्या स्वामित्व की यह विचारधारा वैदिक आदेशों से अनुरूप नहीं है। *श्री ईशोपनिषद्* का कथन है कि, "इस ब्रह्माण्ड के भीतर प्रत्येक चर या अचर वस्तु भगवान् द्वारा नियन्त्रित है और वे ही इनके स्वामी हैं (*ईशावास्यं इदं सर्वम्*)।" यह कथन एक वास्तविकता है, किन्तु भ्रमवश हम अपने को ही स्वामी मान बैठते हैं। वास्तव में सब कुछ ईश्वर का है, अतः उन्हें सर्वाधिक धनवान कहा जाता है।

निस्सन्देह, ऐसे अनेक आदमी हैं, जो स्वयं भगवान् होने का दावा करते हैं। उदाहरणार्थ, भारत में किसी भी समय दर्जनों ऐसे लोग सरलता से ढूँढ़े जा सकते हैं, जो भगवान् होने का दावा

करते हैं। किन्तु यदि उनसे यह पूछा जाए कि क्या वे प्रत्येक वस्तु के स्वामी हैं, तो उनके लिए इसका उत्तर दे पाना कठिन हो जाता है। यह ऐसी कसौटी है जिसके द्वारा हम जान सकते हैं कि कौन भगवान् है। भगवान् प्रत्येक वस्तु के स्वामी हैं, अतः इस नाते वे अवश्य हर किसी व्यक्ति से तथा किसी भी वस्तु से अधिक शक्तिमान होने चाहिए। जब कृष्ण साक्षात् इस पृथ्वी पर उपस्थित थे, तो उन्हें कोई पराजित नहीं कर सका था। युद्ध में उनके कभी भी पराजित होने का कोई साक्ष्य नहीं है। वे क्षत्रिय-वंशी थे और क्षत्रियों का धर्म है, निर्बलों की रक्षा करना। जहाँ तक उनके ऐश्वर्य की बात है, उनकी १६,१०८ पत्नियाँ थीं। प्रत्येक पत्नी का अपना एक अलग महल था और समस्त पत्नियों के साथ रमण करने के लिए उन्होंने अपने को १६,१०८ रूपों में विस्तारित किया था। यह अविश्वसनीय सा लगता है, किन्तु इसका उल्लेख *श्रीमद्भागवत* में हुआ है, जिसे भारत के महान् ऋषिगण शास्त्र के रूप में तथा कृष्ण को भगवान् के रूप में स्वीकार करते हैं।

इस नवम अध्याय के प्रथम श्लोक में आये *गुह्यतमम्* शब्द द्वारा श्रीकृष्ण बताते हैं कि वे अर्जुन को अत्यन्त गोपनीय ज्ञान प्रदान कर रहे हैं। आखिर, वे अर्जुन से ऐसा क्यों कह रहे हैं? इसका कारण यह है कि अर्जुन द्वेषरहित—*अनसूयु*—है। भौतिक जगत में यदि हमसे कोई श्रेष्ठ होता है, तो हम उससे ईर्ष्या करने लगते हैं। हम न केवल एक दूसरे से ईर्ष्या करते हैं, अपितु भगवान् से भी ईर्ष्या करते हैं। यही नहीं, जब कृष्ण कहते हैं कि 'मैं स्वामी हूँ' तो हम इस पर विश्वास नहीं करते। किन्तु अर्जुन

के साथ ऐसी बात नहीं है; वे ईर्ष्यारहित होकर कृष्ण की बात सुनते हैं। अर्जुन कृष्ण के साथ तर्क-वितर्क नहीं करते वरन् वे जो कुछ कहते हैं उसे स्वीकार कर लेते हैं। यह उनकी एक विशेष योग्यता है और यही *भगवद्गीता* को समझने की विधि है। अपनी मानसिक परिकल्पना से ईश्वर को समझ पाना सम्भव नहीं है; इसके लिए हमें श्रवण करना होगा तथा स्वीकार करना होगा।

चूँकि अर्जुन ईर्ष्यारहित हैं, इसलिए श्रीकृष्ण उन्हें यह विशिष्ट ज्ञान सुनाते हैं। यह केवल सैद्धान्तिक ज्ञान न होकर व्यावहारिक विज्ञान भी है (*विज्ञान सहितम्*)। *भगवद्गीता* से हमें जो भी ज्ञान प्राप्त होता है, उसे भावुकता या धर्मान्धता के रूप में नहीं लेना चाहिए। यह विद्या ज्ञान तथा विज्ञान दोनों ही है, अर्थात् सैद्धान्तिक ज्ञान के साथ ही वैज्ञानिक ज्ञान भी है। यदि कोई इस ज्ञान में प्रबुद्ध हो ले, तो उसकी मुक्ति निश्चित है। इस भौतिक जगत में जीवन स्वाभाविक रूप से अमांगलिक तथा क्लेशपूर्ण है। *मोक्ष* का अर्थ है मुक्ति और यह वचन दिया गया है कि इस ज्ञान का मर्म समझ लेने से मनुष्य को समस्त क्लेशों से मुक्ति मिल जायेगी। अत: यह जान लेना महत्त्वपूर्ण है कि कृष्ण इस ज्ञान के सम्बन्ध में क्या कहते हैं।

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥

"यह ज्ञान सब विद्याओं का राजा तथा सम्पूर्ण गोपनीय रहस्यों का रहस्य है। यह परम शुद्ध है और चूँकि यह आत्म स्वरूप का

प्रत्यक्ष साक्षात्कार कराने वाला है, अत: यह धर्म की पूर्णता है। यह अविनाशी है और इसकी साधना भी सुखमय है।" (*भगवद्गीता* ९.२)

भगवद्गीता के अनुसार सर्वश्रेष्ठ विद्या (*राजविद्या राजगुह्यम्*) कृष्णभावनामृत है, क्योंकि *भगवद्गीता* से पता चलता है कि जिसे वास्तविक विद्या प्राप्त हुई रहती है, उसका लक्षण यह है कि वह कृष्ण का शरणागत हो चुका होता है। जब तक हम आत्मसमर्पण किये बिना ईश्वर के विषय में मनोकल्पना करते रहते हैं, तब तक इसका यही अर्थ होता है कि हमें पूर्ण ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ है। ज्ञान की पूर्णता तो इस प्रकार होती है :

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेव: सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभ:॥

"अनेक जन्म-जन्मान्तरों के अन्त में वास्तविक ज्ञान को प्राप्त हुआ पुरुष मुझे सब कारणों का तथा सब वस्तुओं का परम कारण जान कर मेरी शरण में आता है। ऐसा महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।" (*भगवद्गीता* ७.१९)

शरणागत हुए बिना हम ईश्वर को नहीं जान सकते। ईश्वर की शरण ग्रहण करने में कई जन्म लग सकते हैं, किन्तु यदि हम यह स्वीकार कर लेते हैं कि ईश्वर महान् हैं, तो तुरन्त ही उनके शरणागत होना सम्भव है। किन्तु इस भौतिक जगत में सामान्य रूप से हमारी स्थिति ऐसी नहीं होती है। हम स्वभाव से ईर्ष्यालु होते हैं और फलस्वरूप सोचते हैं, "मैं ईश्वर की शरण में क्यों जाऊँ? मैं तो स्वतन्त्र हूँ; मैं स्वतन्त्र रूप से कार्य करूँगा।" अत:

इस भ्रान्त धारणा के निवारण के लिए हमें अनेक जन्मों तक कर्म करना पड़ता है। इस प्रसंग में कृष्ण का नाम विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। *कृष्* का अर्थ है 'जन्म की पुनरावृत्ति' तथा *ण* का अर्थ है 'रोकने वाला'। केवल ईश्वर हमारी इस पुनरावृत्ति को रोकने में समर्थ हैं। ईश्वर की अहैतुकी कृपा के बिना कोई भी जन्म-मृत्यु के चक्र को रोक पाने में समर्थ नहीं है।

नवें अध्याय का विषय है *राजविद्या*। *राज* का तात्पर्य है 'राजा' और *विद्या* का अर्थ है 'ज्ञान'। सामान्य जीवन में कोई व्यक्ति किसी एक विषय में राजा है, तो दूसरा किसी अन्य विषय में। किन्तु यह ज्ञान अन्य सबों में सर्वोपरि है और अन्य समस्त ज्ञान इसके अधीन है या इससे सम्बन्धित है। *राजगुह्यम्* शब्द सूचित करता है कि यह सर्वोत्कृष्ट ज्ञान अत्यन्त गोपनीय है और *पवित्रम्* शब्द का अर्थ है, यह अत्यन्त शुद्ध है। यह ज्ञान *उत्तमम्* भी है—*उद्* का अर्थ है 'परे' तथा *तम* का अर्थ है 'अन्धकार' तथा जो ज्ञान इस संसार से तथा इस संसार के ज्ञान से परे है, वह *उत्तमम्* कहलाता है। यह प्रकाश का ज्ञान है और अन्धकार इससे विलग कर दिया गया है। यदि कोई ज्ञान के इस मार्ग का अनुसरण करता है, तो उसे स्वयं ही समझ में आ जाएगा कि वह सिद्धि (पूर्णता) के मार्ग पर कितना अग्रसर हो चुका है (*प्रत्यक्षावगमं धर्म्यम्*)। *सुसुखं कर्तुम्* इस बात का सूचक है कि इस ज्ञान का पालन अत्यन्त आह्लादपूर्ण तथा सुखमय है। *अव्ययम्* बताता है कि यह ज्ञान स्थायी है। भले ही हम इस भौतिक जगत में शिक्षा या धन के लिए कार्यशील रहें, किन्तु ये वस्तुएँ *अव्ययम्*

नहीं हैं, क्योंकि इस शरीर के नष्ट होते ही अन्य सब कुछ भी नष्ट हो जाता है। मृत्यु के साथ ही हमारी शिक्षा, उच्च उपाधियाँ, बैंक में जमा धन, परिवार—सब कुछ—नष्ट हो जाता है। हम इस भौतिक जगत में जो कुछ भी कर रहे हैं, वह शाश्वत नहीं है। किन्तु यह ज्ञान ऐसा नहीं है।

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥

"इस प्रयास में जो कुछ भी साधन किया जाता है, उसका न तो कभी नाश होता है और न ही ह्रास। इस पथ में की गई अल्प प्रगति भी व्यक्ति की अत्यधिक भयानक संकट से रक्षा कर सकती है। (*भगवद्गीता* २.४०)

कृष्णभावनामृत का ज्ञान इतना पूर्ण होता है कि यदि इसमें किया गया कार्य अपूर्ण भी रह जाये, तो अगले जन्म में मनुष्य ने जहाँ पर इसे छोड़ा था, उससे आगे वह फिर इसे करने लगता है। दूसरे शब्दों में, कृष्णभावनामृत में किये गये कार्य स्थायी होते हैं। इसके विपरीत भौतिक उपलब्धियों का शरीर से सम्बन्ध होता है, इसके कारण, मृत्यु के साथ ही उनका विलोप हो जाता है। उपाधियों से जुड़ा ज्ञान कभी स्थायी नहीं रहता। मैं सोचता हूँ कि मैं पुरुष या स्त्री, अमरीकी या भारतीय, ईसाई या हिन्दू हूँ—ये सब शरीर से सम्बन्ध रखने वाली उपाधियाँ हैं और शरीर के नष्ट होते ही इन सबका भी विनाश हो जाएगा। वास्तव में हम आत्मा हैं, और इस कारण हम जहाँ कहीं जाएँगे, हमारे आध्यात्मिक कार्यकलाप हमारे साथ-साथ आएँगे।

श्रीकृष्ण यह भी बताते हैं कि यह राजविद्या आनन्दपूर्वक सम्पन्न होती है। हम सरलता से यह देख सकते हैं कि कृष्णभावनामृत में कार्य आनन्द से सम्पन्न किये जाते हैं। इसमें कीर्तन करना, नृत्य करना, प्रसाद (वह भोजन जिसे कृष्ण को अर्पण किया जा चुका हो) ग्रहण करना तथा *भगवद्गीता* की विवेचना सम्मिलित हैं। ये मुख्य क्रियाएँ हैं। इनके लिए कोई ऐसा कठोर प्रतिबन्ध या विधि-विधान नहीं है कि हम इतने समय तक सीधे बैठें या इतने आसन करें या श्वास साधें। नहीं, यह विधि अत्यन्त सरलता से और प्रसन्नतापूर्वक की जा सकती है। प्रत्येक व्यक्ति नाचना, गाना, खाना तथा सत्य सुनना चाहता है। यह विधि सचमुच *सुसुखम्* अर्थात् अत्यन्त प्रसन्नतापूर्ण है।

भौतिक जगत में शिक्षा के अनेक स्तर हैं। कुछ लोग तो प्रारम्भिक शिक्षा या माध्यमिक स्कूल तक की शिक्षा भी पूरी नहीं कर पाते, जब कि अन्य कुछ लोग लगातार आगे बढ़ते हुए विश्वविद्यालय की शिक्षा प्राप्त करते हैं, जिससे वे बी.ए., एम.ए., पी-एच.डी. इत्यादि करते हैं। किन्तु यह ज्ञान का सार—राजविद्या—कौन सी विद्या है? यह वही कृष्णभावनामृत है। वास्तविक ज्ञान तो "मैं कौन हूँ," इसको समझ लेना है। जब तक हम अपने आपको नहीं समझ लेते, तब तक हम वास्तविक ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते। जब सनातन गोस्वामी अपना सरकारी पद छोड़कर श्री चैतन्य महाप्रभु के पास पहली बार आये, तो उन्होंने महाप्रभु से पूछा, "शिक्षा का तात्पर्य क्या है?" यद्यपि सनातन गोस्वामी को संस्कृत सहित अन्य कई भाषाएँ आती थीं, फिर भी

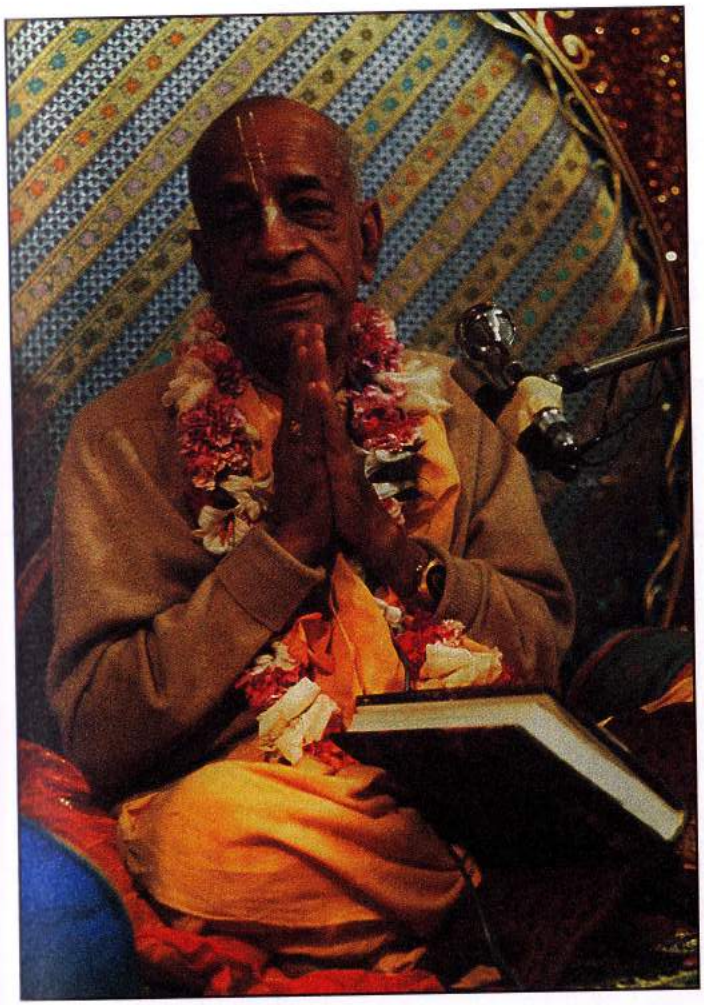

कृष्णकृपामूर्ति

श्री श्रीमद् ए. सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद

संस्थापकआचार्य : अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ

कुरूक्षेत्र की युद्धभूमि पर अर्जुन को भगवद्गीता का उपदेश देते हुए श्रीकृष्ण।

उन्होंने वास्तविक शिक्षा के विषय में प्रश्न किया। सनातन गोस्वामी ने महाप्रभु से कहा, "सामान्य लोग मुझे अत्यधिक शिक्षित कहते हैं और मैं इतना मूर्ख हूँ कि उनके कहने पर मैं वास्तव में इसका विश्वास कर लेता हूँ।"

महाप्रभु ने उत्तर दिया, "तुम्हें यह क्यों नहीं सोचना चाहिए कि तुम भली-भाँति शिक्षित हो? तुम तो संस्कृत तथा फारसी के महान् विद्वान हो।"

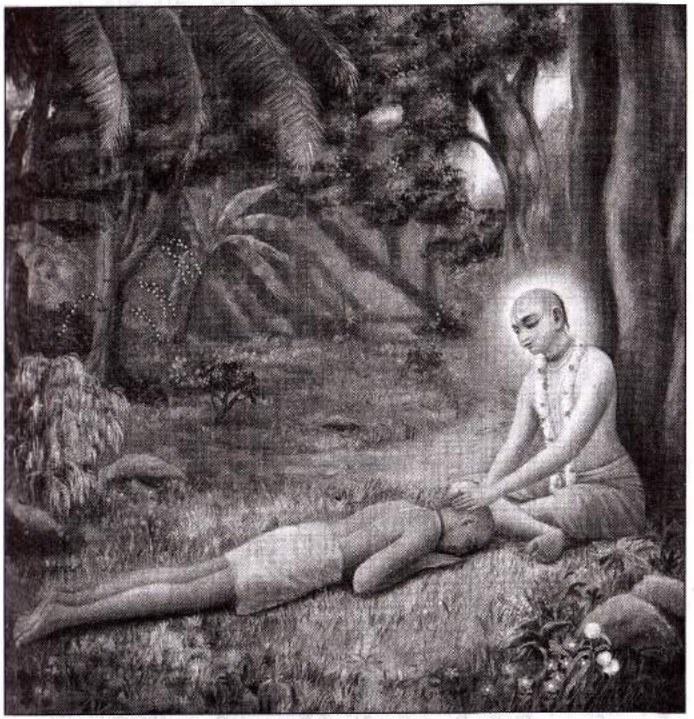

भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु और सनातन गोस्वामी

सनातन गोस्वामी ने कहा, "ऐसा भले ही हो, किन्तु मैं यह नहीं जानता कि मैं क्या हूँ?" फिर उन्होंने महाप्रभु से आगे कहा, "मैं नहीं चाहता कि मुझे कष्ट मिले, किन्तु ये भौतिक क्लेश मुझ पर बलपूर्वक थोपे जाते हैं। मुझे इसका भी ज्ञान नहीं कि मैं कहाँ से आया हूँ और कहाँ जा रहा हूँ; फिर भी लोग मुझे शिक्षित कहते हैं। जब लोग मुझे महान् विद्वान कहते हैं, तो मुझे संतोष होता है, किन्तु सत्य यह है कि मैं इतना बड़ा मूर्ख हूँ कि मैं यह भी नहीं जानता कि मैं कौन हूँ।" सनातन गोस्वामी वास्तव में हम सबके लिए ऐसा बोल रहे थे, क्योंकि आज हमारी स्थिति यही है। भले ही हम अपनी शैक्षिक योग्यता पर गर्व करें, किन्तु यदि कोई यह पूछे कि हम कौन हैं, तो हम उसका उत्तर नहीं दे पाते। प्रत्येक व्यक्ति को यह भ्रान्त धारणा है कि यह शरीर ही 'स्व' है, किन्तु वैदिक स्रोतों से हमें यह पता चलता है कि बात ऐसी नहीं है। जब हम यह अनुभव कर लें कि हम ये शरीर नहीं हैं, तभी हम वास्तविक ज्ञान में प्रवेश कर सकते हैं और यह जान सकते हैं कि वास्तव में हम क्या हैं। यही ज्ञान का शुभारम्भ है।

मैं कौन हूँ, केवल इतना जान लेने से ही नहीं, वरन् तदनुसार कर्म करने से राजविद्या को और आगे परिभाषित किया जा सकता है। यदि हम यह नहीं जानते कि हम कौन हैं, तो फिर हमारे कार्यकलाप किस प्रकार सही हो सकते हैं? यदि हम अपनी पहचान ही ठीक से नहीं कर पाते हैं, तो हम अपने कार्यकलापों के विषय में भी भ्रान्त रहेंगे। केवल इतना जान लेना ही पर्याप्त नहीं है कि हम ये भौतिक शरीर नहीं हैं, हमें इस

धारणा के अनुसार कार्य करना होगा कि हम *आध्यात्मिक* हैं। इस ज्ञान पर आधारित कर्म—आध्यात्मिक कार्य—ही कृष्णभावनामृत में किया जाने वाला कर्म है। इस प्रकार का ज्ञान भले ही सुलभ प्रतीत न हो, किन्तु श्रीकृष्ण तथा भगवान् चैतन्य महाप्रभु की कृपा से यह अत्यन्त सुगमता से प्राप्त हो जाता है, जिन्होंने इस ज्ञान को हरे कृष्ण महामन्त्र के कीर्तन द्वारा सुलभ बनाया है—हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे / हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे।

श्री चैतन्य महाप्रभु ने जीवात्माओं को दो प्रमुख वर्गों में विभाजित किया—ये हैं चर तथा अचर। वृक्ष, तृण, पौधे, शिला आदि अचर हैं, क्योंकि इनमें पर्याप्त विकसित चेतना नहीं होती। इनमें चेतना तो है, किन्तु यह ढकी हुई रहती है। यदि कोई जीवात्मा अपनी स्थिति को नहीं समझता, तो वह शिला के तुल्य है, भले ही वह मानव-शरीर में क्यों न विचरण करता हो। जीवात्माओं की पक्षी, सरीसृप, पशु, कीड़े, मनुष्य, देवता आदि ८० लाख से अधिक योनियाँ हैं, जिनमें से मनुष्यों की संख्या बहुत थोड़ी सी है। भगवान् श्री चैतन्य ने यह भी इंगित किया है कि मनुष्यों की ४ लाख योनियों में से कुछ ही सभ्य हैं और इन सभ्य मनुष्यों में से केवल कुछ ही शास्त्रों के प्रति श्रद्धा रखते हैं।

आजकल अनेक लोग अपने को किसी न किसी धर्म—ईसाई, हिन्दू, मुसलमान, बौद्ध आदि के प्रति समर्पित होने का दावा करते हैं, किन्तु वास्तविकता यह है कि वे हकीकत में शास्त्रों में विश्वास नहीं रखते। जो लोग शास्त्रों में विश्वास रखते

भी हैं, वे अधिकतर पुण्यदायक परोपकारी कार्यों में आसक्त रहते हैं। उनका विश्वास है कि धर्म का अर्थ है यज्ञ, दान तथा तप। जो तपस्या में प्रवृत्त रहते हैं, वे अत्यन्त कठोर नियमों का स्वेच्छा से पालन करते हैं—यथा ब्रह्मचारी छात्र या संन्यासी। दान का अर्थ है, अपनी भौतिक सम्पत्ति को स्वेच्छा से दूसरों को दे देना। इस युग में यज्ञ का नामोनिशान नहीं है, किन्तु *महाभारत* जैसे ऐतिहासिक ग्रंथों से हमें पता चलता है कि राजा लोग स्वर्ण, रजत तथा मणि-माणिक वितरित करके यज्ञ सम्पन्न करते थे। यज्ञ मुख्य रूप से राजाओं के लिए था और लघु स्तर पर दान गृहस्थों के लिए था। जो लोग शास्त्रों में वस्तुत: विश्वास रखते थे, वे सामान्यतया इन्हीं सिद्धान्तों में से कुछेक का पालन करते थे। किन्तु इस युग में लोग प्राय: यही कहते हैं कि वे अमुक धर्म का पालन करते हैं, किन्तु वास्तव में वे कुछ भी नहीं करते। ऐसे लाखों लोगों में से कुछ विरले ही वास्तव में दान, यज्ञ, तथा तप करते हैं। चैतन्य महाप्रभु आगे यह भी कहते हैं कि विश्वभर में ऐसे धार्मिक सिद्धान्तों का पालन करने वाले लाखों व्यक्तियों में से कुछ ही पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर पाते हैं तथा यह समझ पाते हैं कि वे क्या हैं।

मात्र इतना जान लेना कि 'मैं यह शरीर नहीं हूँ, अपितु आत्मा हूँ" पर्याप्त नहीं है। हमें भौतिक प्रकृति के इस पाश से छूटकारा पाना है। इसे मुक्ति कहते हैं। वे कौन हैं और क्या हैं, जो उसके विषय में आत्मज्ञानी हैं, ऐसे हजारों व्यक्तियों में से केवल एक या दो ही वास्तव में मुक्त हो पाते हैं। और ऐसे हजारों

मुक्त व्यक्तियों में से एक या दो ही यह समझ पाते हैं कि श्रीकृष्ण कौन हैं और क्या हैं। अत: कृष्ण को समझना कोई सरल काम नहीं है। इस प्रकार अज्ञान तथा अराजकता-प्रधान इस कलियुग में मुक्ति व्यावहारिक रूप से सर्वसामान्य की पहुँच के बाहर है। मनुष्य को सभ्य होने की समग्र अग्निपरीक्षा पार करनी पड़ती है, फिर धार्मिक बनना होता है, फिर दान तथा यज्ञ करके ज्ञान तथा मुक्ति के स्तर तक पहुँचना होता है, और मुक्ति के स्तर पर पहुँचने के बाद अन्त में इस बात का ज्ञान होता है कि कृष्ण क्या हैं। *भगवद्गीता* में भी इस विधि का उल्लेख है :

ब्रह्मभूत: प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
सम: सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥

"जो इस प्रकार आध्यात्मिक पद पर स्थित होता है, उसे तुरन्त ही परम ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। वह न तो किसी वस्तु की इच्छा करता है, न ही कभी शोक करता है; वह प्रत्येक जीव के प्रति समभाव रखता है। ऐसी अवस्था में उसे मेरी शुद्ध भक्तिमय सेवा प्राप्त होती है।" (*भगवद्गीता* १८.५४)

ये हैं मुक्ति के लक्षण। मुक्त व्यक्ति का पहला लक्षण यह है कि वह अत्यन्त प्रसन्न रहता है। उसे आप कभी खिन्न नहीं पाएँगे। न ही उसे कोई चिन्ता रहती है। वह कभी क्षुब्ध नहीं होता कि, "मेरे पास यह नहीं है। अरे, मुझे यह वस्तु अवश्य लेनी है। अरे, मुझे यह बिल अदा करना है। मुझे यहाँ जाना है, वहाँ जाना है।" जो व्यक्ति मुक्त है, उसे तनिक भी चिन्ता नहीं रहती। भले ही वह संसार का सबसे निर्धन व्यक्ति क्यों न हो, किन्तु वह न तो कभी

शोक करता है, न ही यह सोचता है कि वह निर्धन है। वह क्यों सोचे कि वह निर्धन है? जब हम सोचते हैं कि हम ये भौतिक शरीर हैं और इन शरीरों के साथ हमारी सम्पत्ति जुड़ी है, तभी हम अपने आपको धनी या निर्धन मानते हैं। किन्तु जो जीवन की भौतिकतावादी धारणा से मुक्त रहता है, उसे सम्पत्ति के होने या इनका अभाव होने से कोई सरोकार नहीं होता। वह इस तरह सोचता है, "मुझे न तो कुछ पाना है, न खोना है। मैं इन सबसे सर्वथा अलग हूँ।" न ही वह अन्य किसी को धनी या निर्धन, शिक्षित अथवा अशिक्षित, सुन्दर अथवा कुरूप के रूप में देखता है। उसे कोई भौतिक द्वन्द्व नहीं दिखता, क्योंकि उसकी दृष्टि पूर्ण रूप से अध्यात्म-पद पर लगी रहती है और उसे प्रत्येक जीव

चाहे कोई ब्राह्मण हो या शूद्र, काला हो या गोरा, हिन्दू हो या ईसाई अथवा जो कुछ भी हो, उसे कृष्णभावनायुक्त होना चाहिए।

कृष्ण के अंश-प्रत्यंश के रूप में दिखता है। इस प्रकार वह समस्त जीवों को उनके सही रूप में देखते हुए उन्हें कृष्णभावनामृत में वापस ले जाने का प्रयास करता है। उसका एकमात्र दृष्टिकोण यही रहता है कि चाहे कोई ब्राह्मण हो या शूद्र, काला हो या गोरा, हिन्दू हो या ईसाई अथवा जो कुछ भी हो, उसे कृष्णभावनायुक्त होना चाहिए। जब वह इस प्रकार स्थित रहता है, तब वह—*मद्भक्तिं लभते पराम्*—कृष्ण का शुद्ध भक्त बनने के योग्य होता है।

व्यावहारिक दृष्टि से, इस कलियुग में यह विधि इतनी सुगम नहीं है। *श्रीमद्भागवत* में इस युग के लोगों का वर्णन किया गया है। उनका जीवन-काल अत्यन्त अल्प बताया गया है, उन में अत्यन्त भावशून्य और सुस्त रहने की प्रवृत्ति होती है तथा वे अधिक समय तक नींद में रहते हैं और जब वे सोते नहीं होते, तो धन कमाने में व्यस्त रहते हैं। वे बड़ी मुश्किल से प्रतिदिन केवल दो घंटे का समय आध्यात्मिक कार्यों में लगा पाते हैं, अतः ऐसे लोगों से आध्यात्मिक ज्ञान की क्या आशा की जाए? यह भी कहा गया है कि यदि कोई आध्यात्मिक प्रगति करना चाहे भी, तो ऐसी अनेक छद्म-आध्यात्मिक समितियाँ हैं, जो उसका अनुचित लाभ उठाना चाहती हैं। इस युग के लोगों को *अभागा* भी कहा गया है। उन्हें खाने, सोने, रक्षा करने, मैथुन करने जैसी जीवन की प्रारम्भिक आवश्यकताएँ पूरी करने में भी अत्यन्त कठिनाई होती है, जिन्हें पशु भी पूरा कर लेते हैं। यदि उनकी ये आवश्यकताएँ इस युग में पूरी हो भी लें, तो वे सदा युद्ध के

कारण परेशान रहते हैं—कभी हमलावर से अपनी रक्षा करने के लिए या स्वयं युद्ध करने के लिए। इसके अतिरिक्त कलियुग में नित्य विक्षिप्त करने वाली व्याधियां तथा आर्थिक समस्याएँ बनी रहती हैं। इसलिए भगवान् कृष्ण ने यह सोचा कि इस युग में लोगों के लिए निर्धारित विधि-विधानों का पालन करते हुए मुक्ति की सिद्धावस्था तक पहुँचना असम्भव है।

इस प्रकार अपनी अहैतुकी कृपावश श्रीकृष्ण भगवान् चैतन्य महाप्रभु के रूप में अवतरित हुए और उन्होंने हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे / हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे—के जप के साधन को जीवन की चरम सिद्धि तथा आध्यात्मिक आनन्द प्राप्त करने के लिए वितरित किया। जप की यह विधि अत्यन्त व्यावहारिक है, और यह मनुष्य के मुक्त होने-न-होने अथवा उसकी स्थिति का आध्यात्मिक जीवन के अनुकूल होने-न-होने पर निर्भर नहीं करती। जो कोई भी इस विधि को ग्रहण करता है, वह तुरन्त पवित्र हो जाता है। इसलिए इसे *पवित्रम्* कहा गया है। यही नहीं, जो कोई व्यक्ति कृष्णभावनामृत की इस विधि को ग्रहण करता है, उसके पापों के सुषुप्त कर्मफल के सारे बीज नष्ट हो जाते हैं। जिस प्रकार अग्नि में डाली गई प्रत्येक वस्तु भस्म हो जाती है, उसी तरह यह विधि हमारे पूर्वजन्मों के सारे पापकर्मों के फलों को जलाकर राख कर देती है।

हमें यह समझ लेना चाहिए कि हमारे सारे कष्ट हमारे पापकर्मों के कारण हैं और पाप-कर्मों का कारण हमारा अज्ञान

है। पापकर्म या निषिद्ध कार्य उनके द्वारा किये जाते हैं, जो यह नहीं जानते कि क्या सही है और क्या गलत है। उदाहरणार्थ, एक

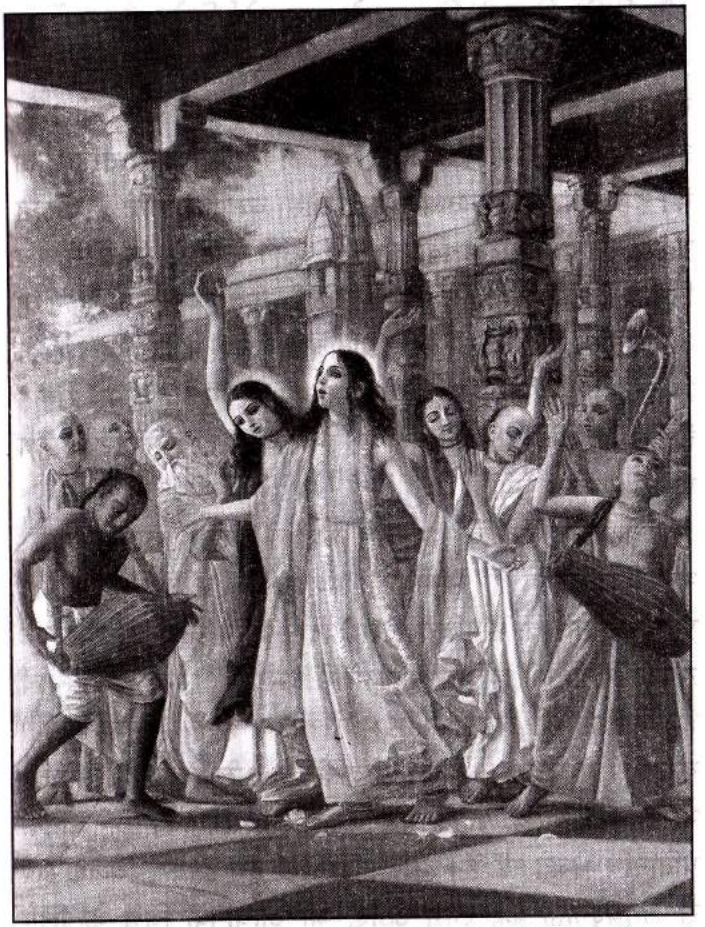

भगवान् चैतन्य महाप्रभुने हरे कृष्ण महामंत्र के जप को जीवन की चरम सिद्धि तथा आध्यात्मिक आनन्द प्राप्त करने के लिए वितरित किया।

शिशु अपने अज्ञान के कारण भोलेपन से आग में हाथ डाल देगा। इस तरह वह तुरन्त जल जाएगा, क्योंकि अग्नि पक्षपातरहित है और निर्दोष शिशु के लिए उसके पास कोई विशेष छूट नहीं है। अग्नि तो मात्र अग्नि की भाँति कार्य करती है। इसी प्रकार हम यह नहीं जानते हैं कि भौतिक जगत किस तरह क्रियाशील है, इसका नियामक कौन है अथवा इसका नियमन किस तरह होता है। हम अपनी अज्ञानतावश मूर्खों जैसा व्यवहार करते हैं, किन्तु प्रकृति इतनी कठोर है कि वह हमें अपने कर्मों के फलों से बच निकलने नहीं देती। हम कोई भी कर्म, चाहे जानबूझकर करें या अनजाने में, सभी के लिए प्रतिक्रिया तथा तज्जन्य क्लेश तो मिलते ही हैं। फिर भी, ज्ञान के माध्यम से हम यह समझ सकते हैं कि वास्तविक स्थिति क्या है, ईश्वर कौन हैं और उनके साथ हमारा सम्बन्ध क्या है।

यह ज्ञान, जिसके द्वारा हम कष्टों से छुटकारा पा सकते हैं, मनुष्य जीवन में ही सम्भव है, पशु जीवन में नहीं। हमें ज्ञान प्रदान करने तथा समुचित दिशा प्रदान करने के लिए विश्व के समस्त भागों की विभिन्न भाषाओं में धर्मग्रंथ (शास्त्र) लिखे गये हैं। भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु ने बताया है कि मनुष्य अनन्त काल से परमेश्वर से अपने सम्बन्ध को भूल चुके हैं; इसलिए मानव को शास्त्र प्रदान करने के लिए श्रीकृष्ण अनेकानेक प्रतिनिधि भेजते रहे हैं। हमें चाहिए कि हम इनका, विशेष रूप से *भगवद्गीता* का, लाभ उठाएँ, जो आधुनिक विश्व के लिए प्रधान शास्त्र है।

२

संसार के परे का ज्ञान

कृष्ण ने विशेष रूप से कहा है कि कृष्णभावनामृत की यह विधि सुसुखम् है अर्थात् अत्यन्त सुखद तथा अभ्यास करने में सुगम है। निस्सन्देह, भक्ति की विधि अत्यन्त सुखद है; हम वाद्य-यन्त्रों के साथ सुमधुर ध्वनि में गाते हैं और उसे सुनकर कोई दूसरा व्यक्ति भी साथ हो लेता है (*श्रवणं कीर्तनम्*)। हाँ, उस संगीत का परमेश्वर से सम्बन्ध होना चाहिए; वह उनके यशोगान के लिए होना चाहिए। भगवद्गीता का श्रवण भी भक्तिमय सेवा का अंग है और इसे सुनने के अतिरिक्त इसे जीवन में उतारने की उत्सुकता होनी चाहिए। कृष्णभावनामृत एक विज्ञान है, अतः इसे आँखें मूँद् कर स्वीकार नहीं करना चाहिए। भक्तिमय सेवा की नौ विधियाँ बताई गई हैं (श्रवण, कीर्तन, स्मरण, अर्चना, वन्दना, सेवा, भगवान् का सेवक बनना, उनसे मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करना तथा उन्हें अपना सर्वस्व अर्पण करना)। इन सबका पालन करना सुगम है और इन्हें प्रसन्नतापूर्वक सम्पन्न करना चाहिए।

निस्सन्देह, यदि कोई यह सोचे कि *भगवद्गीता* तथा हरे कृष्ण मंत्र तो हिन्दू-पद्धति के अंग हैं, और इस कारण से उसे ये स्वीकार्य न हों, तो वह गिरजाघर में जाकर गायन कर सकता है।

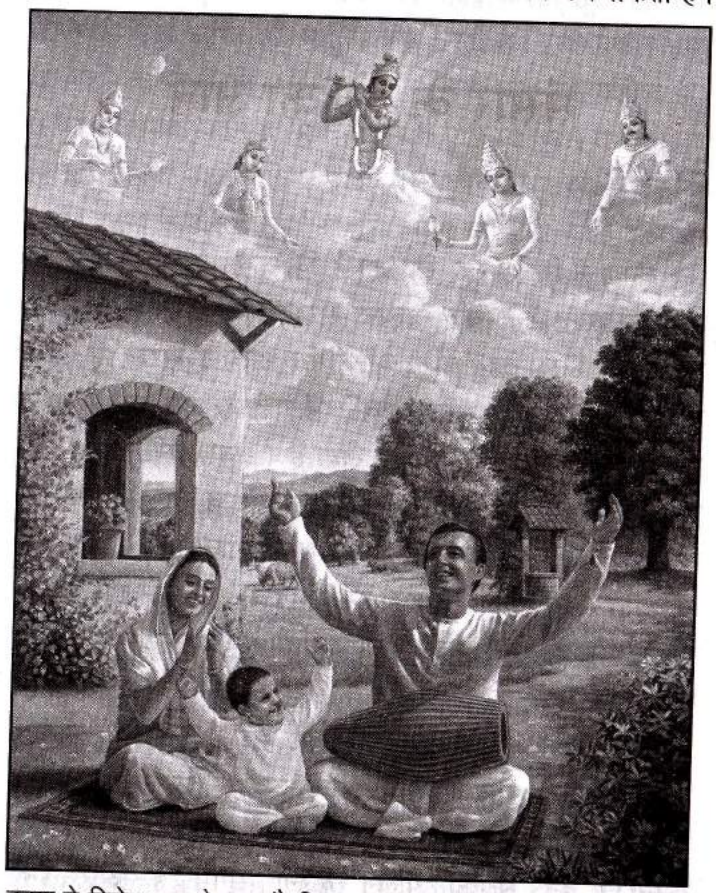

कृष्ण ने विशेष रूप से कहा है कि कृष्णभावनामृत की यह विधि सुसुखम् है अर्थात् अत्यन्त सुखद तथा अभ्यास करने में सुगम है।

इस विधि तथा उस विधि में कोई भेद नहीं है; अभिप्राय यह है कि चाहे वह किसी भी विधि को अपनाये, उसे भगवद्भावनामय होना चाहिए। भगवान् न तो मुस्लिम हैं, न हिन्दू और न ईसाई—वे ईश्वर हैं। न ही हमें हिन्दू, मुसलमान या ईसाई समझा जाना चाहिए। ये तो शारीरिक उपाधियाँ हैं। हम सब विशुद्ध आत्मा हैं, परमेश्वर के अंश हैं। ईश्वर पवित्र हैं और हम भी पवित्र हैं। फिर भी हम किसी न किसी तरह इस भवसागर में आ गिरे हैं और उसकी तरंगों के उछाल के साथ हम भी कष्ट पाते हैं। वास्तव में हमें भौतिक क्लेशरूपी इन उत्ताल तरंगों से कुछ लेना-देना नहीं है। हमें मात्र यही प्रार्थना करनी चाहिए, "हे कृष्ण, कृपया मुझे बचा लें।" ज्योंही हम कृष्ण को भूल जाते हैं, त्योंही माया के महासागर को वहाँ पाते हैं और उसकी जकड़ में आ जाते हैं। इस भवसागर से बच निकलने के लिए हरे कृष्ण महामंत्र का जप करना अति महत्त्वपूर्ण है। हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे / हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे—यह शब्द-ध्वनि कृष्ण से अभिन्न है। कृष्ण शब्द की ध्वनि तथा मूलभूत कृष्ण एक हैं। जब हम हरे कृष्ण का जप और नृत्य करते हैं, तब कृष्ण भी हमारे साथ नृत्य करते हैं। निस्सन्देह, हम यह कह सकते हैं कि, "लेकिन मैं उनको देख नहीं सकता हूँ" किन्तु हम उन्हें देखने पर इतना बल क्यों देते हैं? हम सुनने (श्रवण) पर इतना बल क्यों नहीं देते? दर्शन, स्वाद, घ्राण, स्पर्श तथा श्रवण—ये सब अनुभूति तथा ज्ञान के उपकरण हैं। हम एकमात्र देखने पर ही इतना बल क्यों देते हैं? एक भक्त कृष्ण के दर्शन नहीं करना

चाहता; वह तो कृष्ण के श्रवण-मात्र से सन्तुष्ट हो जाता है। यदा-कदा दर्शन हो सकते हैं, किन्तु श्रवण को भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं समझना चाहिए। ऐसी अनेक वस्तुएँ हैं जिन्हें हम सुनते हैं, किन्तु देख नहीं पाते—जैसे कि पवन हमारे कानों के पास से सरसराता हुआ निकल सकता है और हम उसे सुन सकते हैं, किन्तु पवन को देखने की कोई सम्भावना नहीं है। चूँकि सुनने (श्रवण) का अनुभव देखने (दर्शन) की अपेक्षा कम महत्त्वपूर्ण अथवा प्रामाणिक नहीं होता, अतः हम ध्वनि के माध्यम से कृष्ण का श्रवण करते हुए उनकी उपस्थिति का अनुभव कर सकते हैं। श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं, 'मैं न तो अपने धाम में हूँ, न ध्यानमग्न योगी के हृदय में, अपितु जहाँ मेरे शुद्ध भक्त गायन करते हैं, मैं वहाँ वास करता हूँ।" ज्यों-ज्यों हम आगे बढ़ते जाते हैं, हमें कृष्ण की उपस्थिति की अनुभूति होने लगती है।

ऐसा नहीं है कि हम कृष्ण से ही वस्तुएँ प्राप्त करते रहें और उन्हें कुछ भी अर्पित न करें। हर व्यक्ति ईश्वर से कुछ-न-कुछ लेता रहता है, तो उन्हें हम कुछ क्यों न दें? हम कृष्ण से न जाने कितना प्रकाश, वायु, भोजन, जल आदि लेते रहते हैं। यदि कृष्ण ये संसाधन प्रदान न करें, तो कोई जीवित नहीं रह सकता। क्या यह प्रेम है कि बदले में कभी कुछ दिये बिना लगातार लेते ही रहो, लेते ही रहो? प्रेम का अर्थ है, लेना और लेने के साथ ही देना। यदि हम किसी से कुछ लें और बदले में कुछ भी न दें, तो यह प्रेम नहीं हुआ—यह तो शोषण है। ऐसा नहीं होना चाहिए

कि कृष्ण को कभी कुछ अर्पित किये बिना ही हम भोजन करते रहें। *भगवद्गीता* में कृष्ण कहते हैं :

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥
यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

"यदि कोई प्रेमपूर्वक तथा भक्तिसहित मुझे एक पत्ता, फूल, फल या जल अर्पित करता है, तो मैं उसे स्वीकार कर लेता हूँ। हे कुन्ती-पुत्र, जो भी तुम करते, खाते, अर्पित करते तथा दान देते हो एवं तुम जितनी तपस्या करते हो, वह सब मुझे अर्पण करने के रूप में होना चाहिए।" (*भगवद्गीता* ९.२६-२७)

भक्ति-साधना में देने और लेने के अतिरिक्त मनुष्य को अपने सारे दुःख अथवा अपनी गोपनीय समस्या को भी कृष्ण को अर्पित करना होता है। उसे निवेदन करना चाहिए, "हे कृष्ण! मैं इस तरह कष्ट भोग रहा हूँ। मैं भौतिक मोह के तरंगित सागर में गिर गया हूँ। कृपया मुझे उबारें। अब मेरी समझ में आ गया है कि इस भौतिक जगत के साथ मेरा कोई लेना-देना नहीं है। मुझे यहाँ इस प्रकार से डाल दिया गया है, जैसे मैं अंध महासागर में फेंक दिया गया होऊँ। भले ही मैं अंध-महासागर के साथ अपनी पहचान न बना सकूँ, किन्तु मैं इसकी उथल-पुथल का शिकार हूँ। वास्तव में, मैं आध्यात्मिक स्फुलिंग हूँ—आपका ही एक क्षुद्र अंश हूँ।" दुर्भाग्य की बात यह है कि हम इस सागर के साथ अपनी पहचान करते हुए इसकी तरंगों को रोकने का प्रयास

करना चाहते हैं। हमें इन तरंगों को रोकने का प्रयास नहीं करना चाहिए। ऐसा कर पाना सम्भव नहीं है। प्रकृति के नियमानुसार समुद्र की लहरों का आना-जाना चालू रहेगा। केवल मूर्ख मनुष्य ही अपने आप को इस संसार के साथ अनुकूल बनाने का प्रयत्न करते हैं; किन्तु असली समस्या है इससे छुटकारा कैंसे पाया जाये। जो लोग इसके अनुकूल बनने का प्रयत्न करते रहते हैं और कृष्ण की ओर कभी नहीं मुड़ पाते, वे जन्म-मृत्यु के सागर में निरन्तर फँसे रहते हैं।

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि॥

"हे शत्रुविजयी अर्जुन, जो इस भक्तिमय सेवा के पथ में श्रद्धाहीन हैं, वे मुझे प्राप्त नहीं कर सकते। वे इस भौतिक संसार में बारम्बार जन्म-मृत्यु के लिए लौटते रहते हैं।"(*भगवद्गीता* ९.३)

परिभाषा के अनुसार धर्म वह है, जो हमें ईश्वर से जोड़े। यदि वह हमें ईश्वर से जोड़ने में सक्षम नहीं है, तो वह धर्म नहीं है। धर्म का अर्थ है ईश्वर की खोज करना, ईश्वर का ज्ञान प्राप्त करना तथा ईश्वर के साथ सम्बन्ध स्थापित करना। यही धर्म है। जो लोग भक्तिमय सेवा में लगे रहते हैं, वे कृष्ण अथवा ईश्वर के लिए कर्म करते हैं। चूँकि इस प्रकार ईश्वर के साथ सम्बन्ध बनता है, अतः कृष्णभावनामृत एक धर्म है।

धर्म को निर्मित कर पाना सम्भव नहीं है। वास्तविक धर्म तो किसी अधिकृत स्रोत से आना चाहिए और यह स्रोत या तो ईश्वर

है या उनके प्रतिनिधि। धर्म को ईश्वर का विधान कहा गया है। किसी व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं कि वह राज्य के विधान का निर्माण कर सके। विधान होता है और वह सरकार द्वारा बनाया जाता है। कोई भले ही अपने समाज के लिए कुछ उपनियम बना ले, किन्तु इन्हें भी राजकीय नियम द्वारा अनुमोदित होना होता है। इसी प्रकार यदि हम धर्म सम्बन्धी कोई नियम बनाना चाहते हैं, तो वैदिक प्रमाण के द्वारा उसकी स्वीकृति होनी चाहिए।

भगवद्गीता भी धर्म है। रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, विष्णुस्वामी, चैतन्य महाप्रभु, शंकराचार्य आदि बहुत से महान् अधिकृत व्यक्तियों ने *भगवद्गीता* का धर्म के श्रेष्ठ नियम के रूप में और कृष्ण का पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के रूप में स्वीकार किया है। इसमें कोई संशय नहीं है। पाश्चात्य देशों में भी *भगवद्गीता* को महान् दर्शन-ग्रंथ के रूप में स्वीकार किया जाता है और अनेक पाश्चात्य विद्वानों और दार्शनिकों ने भी इस का अध्ययन करके इस पर टीकाएँ लिखी हैं। विद्वानों तथा आचार्यों द्वारा स्वीकृति प्राप्त होने पर भी कुछ ऐसे लोग हैं, जो *भगवद्गीता* को स्वीकार नहीं करते और इसमें श्रद्धा नहीं रखते। वे इसे प्रमाण के रूप में तो मानते ही नहीं, क्योंकि वे सोचते हैं कि यह कृष्ण नामक किसी व्यक्ति की भावुक अतिशयोक्ति है। इसीलिए उपर्युक्त श्लोक में कृष्ण कहते हैं कि जो लोग *भगवद्गीता* को प्रमाण नहीं मानते, उनका उनके साथ कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता और चूँकि उनसे उनका कोई सम्बन्ध नहीं रहता, अतः वे जन्म-मृत्यु के चक्कर में फँसे रहते हैं। *अप्राप्य*

मां निवर्तन्ते मृत्यु-संसार-वर्त्मनि। *संसार* अर्थात् जन्म-मृत्यु के चक्कर में फँसे होने के कारण इसकी कोई गारंटी नहीं कि अगले जीवन में उन्हें *भगवद्गीता* समझने की ऐसी ही सुविधा अवश्य प्राप्त हो। यह आवश्यक नहीं कि कोई अगले जन्म में मनुष्य बने या कि अमेरिका, भारत अथवा इसी ग्रह पर ही जन्म ले। इसकी कोई निश्चितता नहीं; यह तो हमारे कर्म पर निर्भर करता है। जन्म-मृत्यु के पथ पर चलते हुए हम जन्म लेते हैं, कुछ काल तक जीवित रहते हैं, दुःख या सुख भोगते हैं और फिर इस शरीर को त्याग कर के किसी माँ के गर्भ में प्रवेश करते हैं—चाहे मनुष्य रूप में या पशु रूप में—और दूसरा शरीर धारण करने की तैयारी करते हैं, ताकि बाहर आकर हम फिर से कर्म प्रारम्भ कर सकें। यही *मृत्यु-संसार-वर्त्मनि* कहलाता है। यदि कोई इस मार्ग से बचना चाहे, तो उसे कृष्णभावनामृत को अपनाना चाहिए।

जब युधिष्ठिर महाराज से पूछा गया कि, "संसार में सबसे अधिक आश्चर्यजनक वस्तु कौन-सी है?" तो उन्होंने उत्तर दिया कि, "प्रतिदिन, प्रतिक्षण लोग मरते रहते हैं, फिर भी प्रत्येक व्यक्ति यही सोचता है कि उसकी मृत्यु नहीं होगी।" प्रत्येक क्षण हम यह अनुभव

करते हैं कि सारे जीव मृत्यु के मन्दिर में जा रहे हैं। मनुष्य, कीड़े, पशु, पक्षी—सभी जा रहे हैं। इसीलिए यह संसार मृत्युलोक कहलाता है। प्रतिदिन इतने शोक-संदेश प्रकाशित होते हैं और यदि हम चाहें तो कब्रस्तान या श्मशान भूमि में जाकर इनकी पुष्टि कर सकते हैं। इतने पर भी प्रत्येक व्यक्ति यही सोचता है कि, "मैं किसी भी तरह जीता रहूँगा।" प्रत्येक व्यक्ति पर मृत्यु का नियम लागू होता है, फिर भी कोई इसको गम्भीरता से नहीं लेता। यही माया है। यह सोचकर कि हम अमर हैं, हम मनमानी करते रहते हैं और सोचते हैं कि हम कभी भी पकड़े नहीं जाएँगे। यह जीवन विपदाग्रस्त है और मोह का महान् अंधकारमय भाग है। हमें गम्भीर बनना होगा और समझना होगा कि मृत्यु हमारी प्रतीक्षा कर रही है। हमने यह मुहावरा सुना है—"मृत्यु के समान सुनिश्चित।" (As sure as death) इसका अर्थ यही है कि इस संसार में मृत्यु ही सर्वाधिक निश्चित सत्य है; इससे कोई बच नहीं सकता। जब मृत्यु आती है, तो हमारा घमण्डपूर्ण दर्शन या हमारी बड़ी-बड़ी उपाधियाँ साथ नहीं देतीं। उस समय हमारा शक्तिशाली और बलिष्ठ शरीर तथा हमारा मस्तिष्क—जो कभी किसी की परवाह नहीं करते—पराजित हो जाते हैं। उस समय भिन्नांश (जीवात्मा) भौतिक प्रकृति के वश में हो जाता है और प्रकृति हमें ऐसा शरीर प्रदान करती है, जिसके लिए हम लायक हैं। यदि हम यह खतरा उठाने को तैयार हैं, तो हम कृष्ण से जी चुरा सकते हैं; यदि हम इस खतरे को उठाना नहीं चाहते, तो फिर कृष्ण हमारी सहायता करने के लिए आएँगे।

३

कृष्ण की शक्तियों का ज्ञान

यहाँ पर यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि *भगवद्गीता* का नवम अध्याय विशेष रूप से उन लोगों के लिए है, जिन्होंने श्रीकृष्ण को पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के रूप में स्वीकार कर लिया है। दूसरे शब्दों में, यह उनके भक्तों के लिए है। यदि कोई श्रीकृष्ण को परमेश्वर नहीं मानता, तो उसे नवम अध्याय, जैसा वास्तव में वह है, उससे सर्वथा भिन्न लगेगा। जैसा कि प्रारम्भ में कहा गया है, नवम अध्याय की विषय-वस्तु सम्पूर्ण *भगवद्गीता* में सर्वाधिक गोपनीय सार है। यदि कोई श्रीकृष्ण को परमेश्वर के रूप में स्वीकार नहीं करता, तो उसे यह अध्याय मात्र अतिशयोक्ति प्रतीत होगा। ऐसा उसे विशेष रूप से कृष्ण के उनकी सृष्टि से सम्बन्धित श्लोकों के बारे में लगेगा :

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥

"मैं इस समग्र ब्रह्माण्ड में अपने अप्रकट स्वरूप द्वारा व्याप्त हूँ। समस्त प्राणी मुझमें स्थित हैं, किन्तु मैं उनमें नहीं हूँ।"

(*भगवद्गीता* ९.४)

यह दृश्य जगत भी कृष्ण की शक्ति अर्थात् उनकी माया है। यहाँ पर *मया* का अर्थ है, "मेरे द्वारा," जैसे कोई यह कहे, "यह कार्य मेरे द्वारा किया गया है।" इस 'मेरे द्वारा' का यह अर्थ नहीं है कि उन्होंने अपना कार्य सम्पन्न कर लिया है और अब वे समाप्त हो गए हैं अथवा इससे निवृत्त हो गये हैं। यदि मैं एक विशाल फैक्टरी चालू करूँ और कहूँ, "इस फैक्टरी को मैंने चालू किया था," तो इसका अर्थ कभी भी यह नहीं निकालना चाहिए कि मैं समाप्त हो गया हूँ या उपस्थित नहीं हूँ। यद्यपि निर्माता यह कहे कि "मैंने अमुक वस्तुओं का उत्पादन किया," तो इसका अर्थ यह नहीं होता कि उसने स्वयं वह वस्तु तैयार की या बनाई अपितु यह कि वह वस्तु उसकी शक्ति का प्रतिफल है। इसी प्रकार यदि कृष्ण कहते हैं कि, "तुम्हें इस संसार में जो कुछ भी दिखाई पड़ता है, वह मेरे द्वारा उत्पन्न किया गया था," तो इससे हमें यह नहीं मान लेना चाहिए कि वे अब अस्तित्व में नहीं हैं।

सृष्टि में ईश्वर को सर्वत्र देख पाना बहुत कठिन नहीं है, क्योंकि वे सर्वत्र उपस्थित हैं। जिस प्रकार फोर्ड-फैक्टरी के कार्यकर्ता फैक्टरी के कोने-कोने में श्रीमान फोर्ड को देखते हैं, उसी प्रकार जो लोग कृष्ण के तत्त्वज्ञान से परिचित हैं, वे सृष्टि के प्रत्येक परमाणु में उनका दर्शन कर सकते हैं। यद्यपि प्रत्येक वस्तु कृष्ण में स्थित है (*मत्स्थानि सर्वभूतानि*), किन्तु कृष्ण वहाँ नहीं हैं (*न चाहं तेष्ववस्थितः*)। कृष्ण तथा उनकी शक्ति अभिन्न हैं, फिर भी शक्ति कृष्ण नहीं है। सूर्य तथा सूर्य-प्रकाश भिन्न नहीं

हैं, किन्तु सूर्य-प्रकाश सूर्य नहीं है। सूर्य-प्रकाश खिड़की में से होकर हमारे कमरे में प्रवेश कर सकता है, किन्तु हम यह नहीं कह सकते कि सूर्य हमारे कमरे में है। *विष्णु-पुराण* का कथन है—*परस्य ब्रह्मण: शक्ति:*—*परस्य* का अर्थ है परम, *ब्रह्मण:* का अर्थ है परम सत्य एवं *शक्ति:* का अर्थ है शक्ति। परम भगवान् की शक्ति ही सब कुछ है, किन्तु उस शक्ति में कृष्ण नहीं मिलते।

शक्ति के दो प्रकार हैं—भौतिक तथा आध्यात्मिक। जीव अर्थात् व्यक्तिगत आत्मा का समावेश कृष्ण की उच्चतर परा शक्ति में होता है, किन्तु चूँकि वे भौतिक शक्ति के प्रति आकृष्ट हो सकते हैं, वे तटस्था शक्ति कहलाते हैं। किन्तु वास्तव में शक्तियाँ केवल दो ही हैं। सारे ग्रहमंडल तथा सारे ब्रह्माण्ड कृष्ण की शक्तियों पर स्थित हैं। जिस प्रकार सौर मण्डल के सारे ग्रह सूर्य-प्रकाश (धूप) में स्थित हैं, उसी प्रकार इस सृष्टि की सारी वस्तुएँ कृष्ण-प्रकाश पर स्थित हैं। भगवान् की ये सारी शक्तियाँ भक्त को आह्लादित करने वाली हैं, किन्तु कृष्ण से ईर्ष्या करने वाला उनका अस्वीकार करता है। अभक्त के लिए कृष्ण के वचन गप्प प्रतीत होते हैं, किन्तु भक्त तो सोचता है, "अरे! मेरे भगवान् कितने शक्तिमान हैं!" और वह प्रेम तथा श्रद्धा से अभिभूत हो उठता है। अभक्त सोचते हैं, चूंकि कृष्ण कहते हैं कि "मैं ईश्वर हूँ," इसलिए वे तथा हर कोई ऐसा कह सकता है। किन्तु यदि उनसे कहा जाये कि अपना विराट रूप दिखाओ, तो वे ऐसा नहीं कर सकते। छद्म ईश्वर तथा वास्तविक ईश्वर में यही अन्तर है। कृष्ण की लीलाओं का अनुकरण नहीं किया जा सकता। कृष्ण

की १६,००० से अधिक पत्नियाँ थीं और उन्हें वे १६,००० महलों में अच्छी तरह रखते थे, किन्तु सामान्य व्यक्ति के लिए एक पत्नी को भी ठीक से रख पाना कठिन है। ऐसा नहीं है कि कृष्ण ने केवल अनेक आश्चर्यजनक बातें कही हों; अपितु उन्होंने आश्चर्यजनक क्रियाकलाप भी किये हैं। हमें ऐसा नहीं करना चाहिए कि कृष्ण की कही एक बात पर या उनके किए किसी एक कार्य पर तो विश्वास करें, लेकिन अन्य को ठुकरा दें; यदि विश्वास करना है, तो पूरी तरह से करना चाहिए।

इस सम्बन्ध में नारद मुनि की एक कथा है। एक बार किसी ब्राह्मण ने उनसे पूछा, "क्या आप ईश्वर से भेंट करने जा रहे हैं? यदि हाँ, तो कृपा करके क्या आप भगवान् से पूछेंगे कि मुझे कब मुक्ति मिलेगी?"

नारद मुनि ने कहा, "ठीक है, मैं उनसे पूछ लूँगा।"

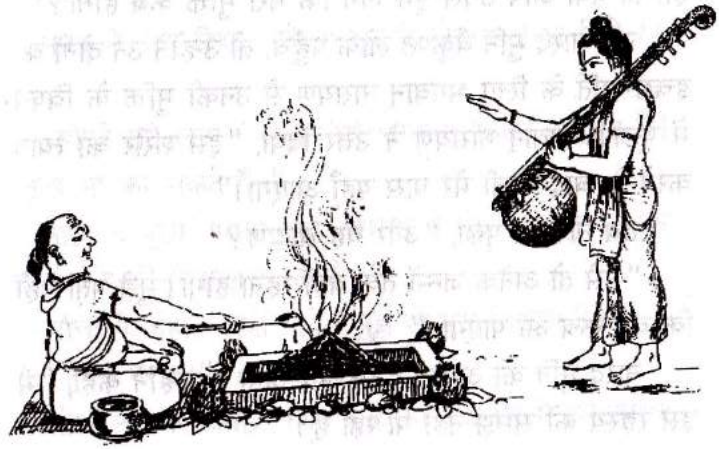

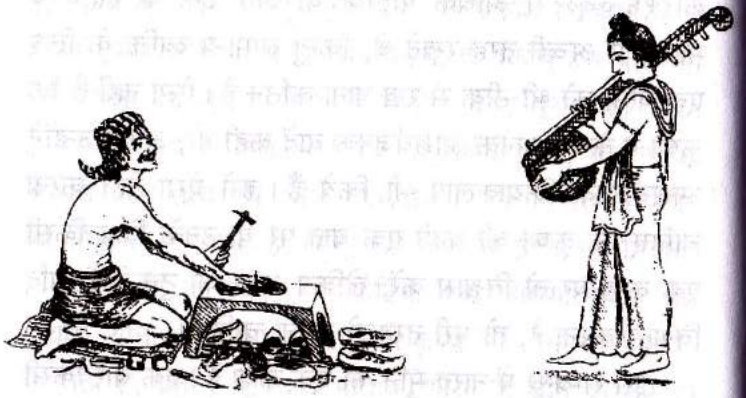

ज्योंही नारद मुनि आगे चले, उन्हें एक पेड़ के नीचे बैठा जूतों की मरम्मत करता हुआ एक मोची मिला। उसने भी नारद से वही प्रश्न किया, "क्या आप ईश्वर से मिलने जा रहे हैं? यदि हाँ, तो क्या आप उनसे पूछ लेंगे कि मेरी मुक्ति कब होगी?"

जब नारद मुनि वैकुण्ठ लोक पहुँचे, तो उन्होंने उन दोनों की इच्छा-पूर्ति के लिए भगवान् नारायण से उनकी मुक्ति के विषय में पूछा। भगवान् नारायण ने उत्तर दिया, "इस शरीर का त्याग करने के बाद मोची मेरे पास यहाँ आएगा।"

तब नारद ने पूछा, "और वह ब्राह्मण?"

"उसे तो अनेक जन्मों तक वहाँ रहना होगा। मुझे पता नहीं कि वह कब आ पाएगा।"

नारद मुनि को आश्चर्य हुआ और अन्त में उन्होंने कहा, "मैं इस रहस्य को समझ नहीं पा रहा हूँ।"

श्री नारायण ने कहा, "तुम स्वयं इसे देखोगे। जब वे तुमसे पूछें कि मैं अपने धाम में क्या कर रहा हूँ, तो उत्तर देना कि मैं सूई के छेद में हाथी पिरो रहा था।"

जब नारद मुनि पृथ्वी पर लौटे और ब्राह्मण के पास गये, तो ब्राह्मण ने कहा, "क्या आपने भगवान् से भेंट की? वे क्या कर रहे थे?"

नारद ने उत्तर दिया, "वे तो सूई के छेद में हाथी पिरो रहे थे।"

ब्राह्मण ने कहा, "मैं ऐसी बेहूदा बातों को नहीं मानता।" नारद को समझने में देर न लगी कि इस आदमी की भगवान् में तनिक भी श्रद्धा नहीं है। इसे केवल कोरा किताबी ज्ञान है।

तब नारद मुनि मोची के पास गये। मोची ने पूछा, "क्या आप भगवान् के यहाँ से हो आये? कृपया बताइये कि वे क्या कर रहे थे?"

नारद ने उत्तर दिया, "वे तो सूई के छेद में हाथी पिरो रहे थे।"

मोची रोने लगा, "ओह! मेरे भगवान् कितने अद्भुत हैं! वे कुछ भी कर सकते हैं।"

नारद ने पूछा, "क्या तुम्हें विश्वास है कि भगवान् सूई के छेद में से हाथी निकाल सकते हैं?"

मोची ने कहा, "क्यों नहीं? मुझे तो पूरा विश्वास है।"

"किस तरह?"

मोची ने उत्तर दिया, "आप देख सकते हैं कि मैं इस बरगद

के पेड़ के नीचे बैठा हूँ और उसमें से हररोज अनेक फल गिरते हैं। और उन फलों के प्रत्येक बीज में इस वृक्ष के ही समान एक बरगद का वृक्ष समाया हुआ है। यदि एक छोटे से बीज के भीतर इतना बड़ा वृक्ष समाया रह सकता है, तो फिर इस बात को स्वीकार करना कि भगवान् द्वारा एक सूई के छेद से हाथी निकाला जा रहा है, कोई कठिन काम कैसे हो सकता है?"

तो इसे श्रद्धा कहते हैं। यह अन्धविश्वास नहीं है। विश्वास के पीछे कोई कारण होता है। यदि कृष्ण इतने नन्हें-नन्हें बीजों

के भीतर एक-एक विशाल वृक्ष भर सकते हैं, तो क्या उनके लिए अपनी शक्ति के द्वारा सारे लोकों को अन्तरिक्ष में तैरते रखना कोई महान् आश्चर्य की बात है?

यद्यपि वैज्ञानिक यह सोचें कि अन्तरिक्ष में सारे ग्रह केवल प्रकृति द्वारा थमे हुए हैं, किन्तु प्रकृति के पीछे परमेश्वर का हाथ है। प्रकृति उनके निर्देशन में कार्य कर रही है। जैसा कि श्रीकृष्ण कहते हैं :

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥

"हे कुन्तीपुत्र, यह भौतिक प्रकृति मेरे निर्देशन में कार्य कर रही है और समस्त चर तथा अचर प्राणियों को उत्पन्न कर रही है। उसी के नियमानुसार यह दृश्य जगत पुनः पुनः उत्पन्न और विनष्ट होता रहता है।" (*भगवद्गीता* ९.१०)

मयाध्यक्षेण का अर्थ है, "मेरे निर्देशन के अनुसार।" यदि भौतिक प्रकृति के पीछे भगवान् का हाथ न रहे, तो वह इतने अद्भुत ढंग से कार्य नहीं कर सकती। हम ऐसा एक भी उदाहरण प्रस्तुत नहीं कर सकते, जिसमें भौतिक वस्तुएँ स्वतः क्रियाशील हो रही हों। पदार्थ निष्क्रिय होता है और आध्यात्मिक स्पर्श के बिना उसके क्रियाशील होने की कोई सम्भावना नहीं है। पदार्थ स्वतन्त्र रूप से अथवा स्वतः कार्य नहीं कर सकता। भले ही यन्त्रों को अत्यन्त विस्मयकारी ढंग से क्यों न निर्मित किया जाये, किन्तु जब तक एक मनुष्य उन्हें स्पर्श नहीं करता, वे कार्य नहीं कर सकते। और वह मनुष्य क्या है? वह आध्यात्मिक स्फुलिंग

है। बिना आध्यात्मिक स्पर्श के कोई भी वस्तु हिल नहीं सकती; परिणामस्वरूप प्रत्येक वस्तु कृष्ण की निराकार शक्ति पर आश्रित है। कृष्ण की शक्ति निराकार है, किन्तु कृष्ण तो साकार हैं। कभी कभी हम मनुष्यों द्वारा आश्चर्यजनक कार्य किए जाने के विषय में सुनते हैं, किन्तु इतनी शक्तिमयी उपलब्धियों के बाद भी वे व्यक्ति बने रहते हैं। यदि मनुष्यों के लिए ऐसा सम्भव है, तो यह परमेश्वर के लिए क्यों सम्भव नहीं हो सकता? हम सब व्यक्ति हैं, किन्तु हम सब परम पुरुष कृष्ण पर आश्रित हैं।

हम ने एटलस के चित्र प्रायः देखे हैं—एक अत्यन्त बलिष्ठ पुरुष अपने कन्धों पर विराट लोक को धारण किये हुए उसे ऊपर उठाये रखने के लिए अत्यधिक श्रम करता हुआ दिखाई पड़ता है। हम यह सोच सकते हैं कि, चूँकि कृष्ण ब्रह्माण्ड का पालन करते हैं, अतः वे एटलस की भाँति इसके भार को सहने के लिए संघर्ष कर रहे हैं, किन्तु ऐसा नहीं है।

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥

"ऐसा होने पर भी उत्पन्न की गई प्रत्येक वस्तु मुझ में स्थित नहीं रहती। मेरे यौगिक ऐश्वर्य को देखो। यद्यपि मैं सभी जीवों का पालन करने वाला हूँ और सर्वत्र विद्यमान रहता हूँ, तो भी मैं स्वयं सृष्टि का मूल स्रोत हूँ।" (*भगवद्गीता* ९.५)

यद्यपि ब्रह्माण्ड में सारे प्राणी कृष्ण की शक्ति में स्थित हैं, फिर भी वे कृष्ण में स्थित नहीं हैं। कृष्ण समस्त जीवों का पालन करते हैं और उनकी शक्ति सर्वव्यापी है, फिर भी वे अन्यत्र रहते हैं। यह कृष्ण की अचिन्त्य योग-शक्ति है। सर्वत्र रहते हुए भी वे प्रत्येक वस्तु से अलिप्त हैं। हम उनकी शक्ति का अनुभव तो कर सकते हैं, किन्तु हम उन्हें देख नहीं सकते, क्योंकि उन्हें भौतिक आँखों से देख पाना सम्भव नहीं है। फिर भी जब हम अपने आध्यात्मिक गुणों को विकसित करते हैं, तो हमारी इन्द्रियाँ पवित्र हो जाती हैं, जिससे हम इस शक्ति में भी उन्हें देख सकते हैं। उदाहरणार्थ, बिजली सर्वत्र है और बिजली का मिस्त्री उसका उपयोग करने में सक्षम होता है। इसी प्रकार परमेश्वर की शक्ति सर्वत्र है और जब हम अध्यात्मपद पर स्थित हो जाते हैं, तो हमें सर्वत्र ईश्वर का प्रत्यक्ष दर्शन होने लगता है। इन्द्रियों का ऐसा अध्यात्मीकरण भक्तिमय सेवा तथा भगवद्-प्रेम से सम्भव होता है। भगवान् ब्रह्माण्ड में सर्वत्र व्याप्त हैं और वे आत्मा, हृदय, जल, वायु में—सर्वत्र स्थित हैं। इस प्रकार यदि हम किसी भी वस्तु से—चाहे मिट्टी, पत्थर या लकड़ी से—ईश्वर की मूर्ति (श्रीविग्रह) बनाते हैं, तो उसे मात्र गुड़िया नहीं समझना चाहिए। वह भी ईश्वर है; यदि हममें पर्याप्त भक्तिभाव हो, तो यह

श्रीविग्रह भी हमसे बातें करेगा। ईश्वर निराकार रूप में सर्वत्र हैं (*मया ततम् इदं सर्वम्*), किन्तु यदि हम उनके साकार स्वरूप को किसी वस्तु से बनाएँ या अपने भीतर भगवान् की छवि उत्पन्न करें, तो वे हमारे लिए साक्षात् प्रकट हो जाएँगे। शास्त्रों में आठ प्रकार के श्रीविग्रहों की संस्तुति की गई है और इनमें से किसी भी एक की पूजा की जा सकती है, क्योंकि भगवान् सर्वत्र हैं। इसका विरोध करते हुए कोई पूछ सकता है, "भगवान् की उपासना उनके मूल आध्यात्मिक रूप के बजाय श्रीविग्रह के रूपों में क्यों की जाये?" इसका उत्तर यह है कि हम भगवान् को उनके आध्यात्मिक रूप में तत्काल नहीं देख सकते। अपने भौतिक चक्षुओं से हम केवल किसी स्थूल पदार्थ को यथा पत्थर, मिट्टी, लकड़ी को ही देख सकते हैं। इसीलिए कृष्ण *अर्चाविग्रह* के रूप में आते हैं—एक ऐसा रूप जिसे भगवान् हमारे द्वारा सुगमता से देखे जाने के लिए प्रस्तुत करते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि यदि हम श्रीविग्रह पर एकाग्रता से ध्यान केन्द्रित करते हैं और भक्ति तथा प्रेम से भेंट चढ़ाते हैं, तो कृष्ण श्रीविग्रह के माध्यम से प्रतिभाव व्यक्त करेंगे।

ऐसी घटनाओं के अनेक उदाहरण हैं। भारत में साक्षी-गोपाल नामक एक मन्दिर है (कृष्ण को प्रायः गोपाल कहते हैं)। यह गोपाल मूर्ति किसी समय पर वृन्दावन के एक मन्दिर में रखी हुई थी। एक बार दो ब्राह्मण, जिनमें एक वृद्ध था और दूसरा युवा, वृन्दावन की यात्रा पर निकले। यात्रा लम्बी थी और उन दिनों रेलगाड़ियाँ नहीं थीं, अतः यात्रियों को अनेक कष्ट

उठाने पड़ते थे। वृद्ध व्यक्ति युवक का अत्यन्त कृतज्ञ था, क्योंकि युवक ने यात्रा में उसकी काफी सहायता की थी। वृन्दावन पहुँचने पर उसने कहा, "हे युवक, तुमने मेरी बहुत सेवा की है। मैं तुम्हारा अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। मैं चाहता हूँ कि तुम्हारी इस सेवा के बदले में तुम्हें कुछ पुरस्कार दूँ।"

उस युवक ने कहा, "महाशय, आप वृद्ध हैं, मेरे पिता के समान हैं। आपकी सेवा करना मेरा कर्त्तव्य है। मुझे कोई पुरस्कार नहीं चाहिए।"

उस वृद्ध पुरुष ने हठ किया, "नहीं, मैं तुम्हारा अत्यन्त कृतज्ञ हूँ, मैं तुम्हें पुरस्कार अवश्य दूँगा।" तब उस वृद्ध ने उस युवक से अपनी युवा पुत्री का विवाह करने का वचन दे दिया।

यह वृद्ध पुरुष अत्यन्त धनी था और वह युवक, विद्वान ब्राह्मण होते हुए भी अत्यन्त निर्धन था। अतः युवक ने इस बात पर विचार करते हुए कहा, "आप यह वचन न दें, क्योंकि आपका परिवार इस बात पर कभी भी सहमत न होगा। मैं इतना गरीब हूँ और आप इतने कुलीन हैं, अतः यह विवाह नहीं हो सकेगा। श्रीविग्रह के समक्ष इस प्रकार वचन न दें।"

यह वार्तालाप मन्दिर में गोपाल-कृष्ण के श्रीविग्रह के समक्ष हो रहा था, और वह युवक चिन्तित था कि कहीं श्रीविग्रह का अपमान न हो जाये। फिर भी युवक के तर्कों के बावजूद वृद्ध पुरुष विवाह की बात पर अड़ा रहा। वृन्दावन में कुछ दिनों तक रहने के बाद वे दोनों घर लौट आये। वृद्ध पुरुष ने अपने ज्येष्ठ पुत्र से कहा कि तुम्हारी बहन का विवाह उस निर्धन ब्राह्मण

युवक से करना है। इस पर उसका ज्येष्ठ पुत्र अत्यन्त क्रुद्ध हुआ और उसने कहा, "आपने मेरी बहन के लिए ऐसा दरिद्र पति क्यों चुना है? यह विवाह नहीं हो सकता।"

उस वृद्ध पुरुष की पत्नी भी आ गई और कहने लगी, "यदि आप हमारी पुत्री का विवाह उस युवक से करेंगे, तो मैं आत्महत्या कर लूँगी।"

इस प्रकार वृद्ध पुरुष बहुत उलझन में पड़ गया। कुछ समय बाद ब्राह्मण-युवक को चिन्ता होने लगी कि, "उस वृद्ध पुरुष ने अपनी पुत्री का विवाह मुझसे करने का वचन श्रीविग्रह के समक्ष दिया था। अब वह उसे पूरा करने क्यों नहीं आ रहा है?" अत: वह वृद्ध पुरुष को उसके वचन की याद दिलाने के लिए उसके पास गया।

उस तरुण ने कहा, "आपने भगवान् कृष्ण के समक्ष वचन दिया था, किन्तु अब आप उसे पूरा नहीं कर रहे हैं। ऐसा क्यों?"

वह वृद्ध पुरुष मौन था। वह अपनी उस उलझन के लिए कृष्ण से प्रार्थना करने लगा। अपनी पुत्री का विवाह इस युवक के साथ करके वह अपने परिवार में क्लेश पैदा करना नहीं चाह रहा था। उसी दौरान उसका ज्येष्ठ पुत्र बाहर आ गया और वह उस ब्राह्मण युवक पर दोषारोपण करने लगा, "तुमने तीर्थस्थान में मेरे पिता को लूट लिया। तुमने कोई नशीली वस्तु देकर उनका सारा धन हर लिया और अब यह कहने आये हो कि उन्होंने मेरी सबसे छोटी बहन को तुम्हें देने का वचन दिया है। तुम धूर्त हो!"

इस प्रकार वहाँ बहुत हंगामा मच गया और लोग एकत्र होने

लगे। वह युवक समझ गया कि वृद्ध पुरुष अब भी विवाह पर सहमत है, किन्तु उसके परिवार के लोग इसे नहीं होने दे रहे हैं। उसके ज्येष्ठ पुत्र के हो-हल्ला मचाने के कारण लोग वहाँ एकत्र होने लगे। वह ब्राह्मण युवक भी उच्च स्वर में बोलने लगा कि इस वृद्ध पुरुष ने श्रीविग्रह के समक्ष वचन दिया था, किन्तु अब परिवार के विरोध के कारण अपने वचन को पूरा नहीं कर पा रहा है। ज्येष्ठ पुत्र नास्तिक था, अत: उसने अचानक युवक को बीच में रोकते हुए कहा, "तुम कहते हो कि भगवान् साक्षी हैं, तो ठीक है; यदि भगवान् यहाँ आकर साक्षी दें कि मेरे पिता ने वचन दिया है, तो तुम मेरी बहन के साथ विवाह कर सकते हो।"

युवक ने कहा, "हाँ, मैं कृष्ण से कहूँगा कि वे साक्षी के रूप में आएँ।" उसे विश्वास था कि भगवान् आएँगे। सभी के समक्ष यह तय हुआ कि यदि वृद्ध पुरुष के वचन की साक्षी के लिए कृष्ण वृन्दावन से आएँगे, तो कन्या का विवाह उस युवक से कर दिया जाएगा।"

वह ब्राह्मण युवक लौटकर वृन्दावन आया और गोपाल कृष्ण से प्रार्थना करने लगा, "हे भगवान्! आपको मेरे साथ चलना होगा।" वह इतना निष्ठावान् भक्त था कि वह कृष्ण से वैसे ही बातें कर रहा था, जैसे कोई अपने मित्र से बातें करता है। उसने यह नहीं सोचा कि गोपाल तो मात्र एक मूर्ति हैं। वह तो उन्हें साक्षात् ईश्वर मान रहा था। अचानक मूर्ति बोल उठी, "तुमने कैसे सोच लिया कि मैं तुम्हारे साथ चल सकता हूँ? मैं

तो एक मूर्ति हूँ। मैं कहीं नहीं जा सकता।"

युवक ने उत्तर दिया, "यदि मूर्ति बोल सकती है, तो वह चल भी सकती है।"

अन्त में श्रीविग्रह ने कहा, "अच्छा, तब तो मैं तुम्हारे साथ चलूँगा, किन्तु एक शर्त है। तुम किसी भी दशा में मुझे देखने के

लिए पीछे नहीं मुड़ोगे। मैं तुम्हारे पीछे-पीछे चलूँगा और तुम मेरे नूपुरों की ध्वनि से जान सकोगे कि मैं आ रहा हूँ।"

युवक ने बात मान ली और वे दूसरे नगर को जाने के लिए वृन्दावन से चल पड़े। जब यात्रा पूरी होने को थी और वे उस युवक के गाँव में प्रवेश करने वाले ही थे कि युवक को नूपुरों की ध्वनि सुनाई पड़नी बन्द हो गई। उसे चिन्ता हुई, "अरे! कृष्ण कहाँ गये?" धैर्य न धर सकने के कारण उसने पीछे मुड़ कर देखा। उसने पाया कि मूर्ति स्थिर खड़ी थी। चूँकि उसने पीछे मुड़ कर देखा था, इसलिए अब मूर्ति आगे नहीं जाने वाली थी। वह तुरन्त दौड़कर नगर में पहुँचा और लोगों से कहने लगा कि चल कर देखें कि कृष्ण साक्षी रूप में आये हैं। सब लोग स्तंभित हो गए कि इतनी बड़ी मूर्ति इतनी दूरी से चल कर आई है। उन्होंने श्रीविग्रह के सम्मान में उस स्थल पर एक मन्दिर बनवा दिया और आज भी लोग भगवान् की पूजा साक्षी-गोपाल के रूप में करते हैं।

अत: हमें यह निष्कर्ष निकालना होगा कि चूँकि ईश्वर सर्वत्र हैं, अत: वे अपनी मूर्ति में हैं, अपनी छवि में भी हैं। यदि कृष्ण सर्वत्र हैं, जैसा कि निर्विशेषवादी भी मानते हैं, तो फिर वे अपनी मूर्ति (श्रीविग्रह) में क्यों नहीं होंगे? कोई मूर्ति हमारे साथ बोलती है या नहीं, यह तो हमारी भक्ति की मात्रा पर निर्भर करता है। किन्तु यदि हम मूर्ति को लकड़ी या पत्थर का टुकड़ा-मात्र समझेंगे, तो कृष्ण हमारे लिए सदा लकड़ी या पत्थर ही बने रहेंगे। कृष्ण सर्वत्र हैं, किन्तु ज्यों ज्यों हमारी आध्यात्मिक चेतना

बढ़ती जाती है, वे हमें अपने यथार्थ रूप में दिखने लगते हैं। यदि हम डाक के डिब्बे में एक चिट्ठी डाल दें, तो वह गन्तव्य तक पहुँच जाएगी, क्योंकि डिब्बा अधिकृत है। इसी प्रकार यदि हम भगवान् की अधिकृत मूर्ति की पूजा करते हैं, तो हमारी श्रद्धा का कुछ प्रभाव होगा। यदि हम विविध विधि-विधानों का अनुसरण करें—अर्थात् हम उसके योग्य बनें—तो यह सम्भव है कि हमें ईश्वर के दर्शन सर्वत्र हों। भक्त के उपस्थित होने पर कृष्ण अपनी सर्वव्यापी शक्तियों से कहीं भी प्रकट हो सकते हैं, किन्तु भक्त वहाँ न हो तो वे वैसा नहीं करते। इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं। प्रह्लाद महाराज को खम्भे में कृष्ण के दर्शन हुए। ऐसे और भी उदाहरण हैं। कृष्ण तो हैं, किन्तु उनके दर्शन करने के लिए हममें पात्रता होनी चाहिए।

अपनी सर्वव्यापकता का उदाहरण श्रीकृष्ण स्वयं इस प्रकार देते हैं :

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय॥

"जैसे सब ओर विचरणशील प्रबल वायु नित्य आकाश में स्थित रहती है, वैसे ही सारे प्राणियों को मुझमें स्थित जानो।" (*भगवद्गीता* ९.६)

प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि वायु आकाश में और पृथ्वी पर सर्वत्र प्रवाहित होती रहती है। ऐसा कोई स्थान नहीं है, जहाँ वायु न हो। यदि हम वायु को निष्कासित करना चाहें, तो हमें किसी यंत्र द्वारा कृत्रिम रूप से शून्यावकाश उत्पन्न करना होगा। जिस

प्रकार आकाश में सर्वत्र वायु चलती रहती है, उसी प्रकार कृष्ण के भीतर सब कुछ स्थित है। यदि ऐसा है तो जब इस भौतिक सृष्टि का प्रलय होता है, तो यह कहाँ चला जाता है?

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्॥

"हे कुन्तीपुत्र, कल्प का अन्त होने पर सम्पूर्ण भौतिक सृष्टि मेरी प्रकृति में विलीन हो जाती है और नये कल्प के आरम्भ होने पर अपनी शक्ति द्वारा मैं उसे पुनः रचता हूँ।" (*भगवद्गीता* ९.७)

कृष्ण अपनी प्रकृति को उसी प्रकार गतिशील करते हैं, जैसे कोई घड़ी में चाबी दे और जब प्रकृति की चाबी खुलती जाती है, तो वह भगवान् में समा जाती है। किन्तु आध्यात्मिक सृष्टि इस तरह की नहीं होती, क्योंकि वह शाश्वत है। भौतिक सृष्टि में प्रत्येक वस्तु अस्थायी है। जिस प्रकार हम सबके शरीर अंतःकरण में स्थित आध्यात्मिक स्फुलिंग के कारण विकसित होते हैं, उसी प्रकार सारी सृष्टि का उद्भव, विकास तथा विनाश उसके भीतर स्थित परमात्मा के कारण होता है। जिस प्रकार हमारी आत्मा हमारे शरीर के भीतर उपस्थित रहती है, उसी प्रकार भगवान् इस ब्रह्माण्ड के भीतर परमात्मा रूप में उपस्थित रहते हैं। जैसे क्षीरोदकशायी विष्णु की उपस्थिति के कारण इस भौतिक सृष्टि का अस्तित्व है, वैसे ही हमारी उपस्थिति के फलस्वरूप हमारे शरीर अस्तित्व में होते हैं। कृष्ण भौतिक सृष्टि का प्राकट्य कभी करते हैं तो कभी नहीं करते। सभी दशाओं में सृष्टि का अस्तित्व भगवान् की उपस्थिति के कारण होता है।

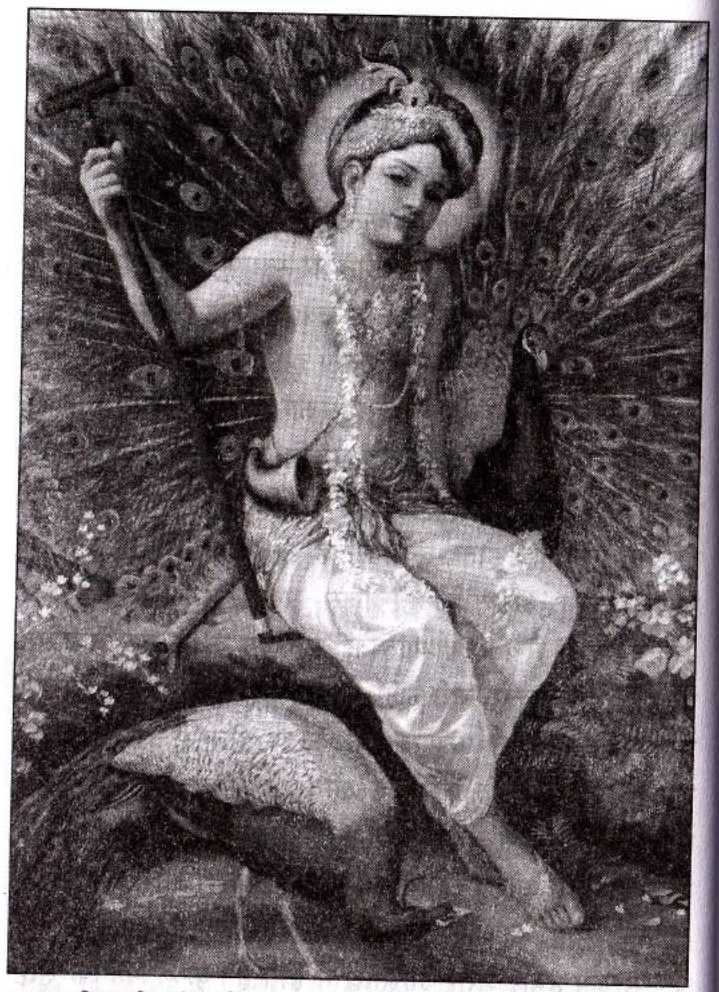

कृष्ण की अर्चना में सदैव संलग्न रहने वाले महात्माजन सृष्टि के सभी पहलुओं में कृष्ण की उपस्थिति देखते हैं। ये महात्मा-जन कृष्ण को समस्त वस्तुओं के स्रोत के रूप में स्वीकार करते हैं।

४

महात्माओं के माध्यम से विद्या

कृष्ण की अर्चना में सदैव संलग्न रहने वाले महात्माजन सृष्टि के सभी पहलुओं में कृष्ण की उपस्थिति देखते हैं। जैसा कि कृष्ण स्वयं कहते हैं, ये महात्मा-जन *भगवद्गीता* के नवम अध्याय के गोपनीय ज्ञान से सुपरिचित होते हैं और वे कृष्ण को समस्त वस्तुओं के स्रोत के रूप में स्वीकार करते हैं।

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥

"हे पृथापुत्र, जो मोहग्रस्त नहीं हैं, ऐसे महात्मा दैवी प्रकृति के संरक्षण में रहते हैं। वे पूर्णतया भक्तिमय सेवा में मग्न रहते हैं, क्योंकि वे मुझे आदि तथा अविनाशी पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के रूप में जानते हैं।" (*भगवद्गीता* ९.१३)

महात्मा निस्सन्देह जानता है कि कृष्ण पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं और समस्त वस्तुओं के उद्गम हैं। *वेदान्त-सूत्र* की उक्ति है—*अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा*—यह मनुष्य-जीवन ब्रह्म विषयक जिज्ञासा करने के लिए है। वर्तमानकाल में हम छोटी-

छोटी नश्वर वस्तुओं के अध्ययन में लगे हैं। ब्रह्म का अर्थ है महानतम, किन्तु हम महानतम पर लक्ष्य केन्द्रित न करके आहार, निद्रा, सुरक्षा तथा मैथुन जैसी पाशविक समस्याओं का हल ढूँढ़ने के प्रयास में उलझे हुए हैं। ये छोटी-छोटी समस्याएँ स्वत: हल हो जाती हैं। आहार, निद्रा, सुरक्षा तथा मैथुन का भोग तो पशु भी करते हैं। इन सबकी व्यवस्था विद्यमान है। ये शारीरिक आवश्यकताएँ वास्तविक समस्याएँ नहीं हैं, किन्तु हमने ही इन्हें समस्याएँ बना रखा है। *वेदान्त-सूत्र* हमें आदेश देता है कि हम इन समस्याओं में न उलझें, क्योंकि ये किसी भी प्रकार के जीवन में हल हो जाती हैं। हमारी समस्या तो दृश्य जगत के स्रोत के विषय में जिज्ञासा करने की है। मनुष्य जीवन ऐसी भौतिक समस्याओं को हल करने के लिए संघर्ष करने हेतु नहीं मिला, जिन्हें मल-भक्षी सूअर भी हल कर सकता है। सूअर अत्यन्त निकृष्ट पशु माना जाता है, किन्तु उसे भी भोजन, निद्रा, सुरक्षा तथा मैथुन की सुविधाएँ मिली हुई हैं। यदि हम इन वस्तुओं के लिए प्रयत्न न भी करें, तो भी ये हमें प्राप्त हो जाएंगी। बजाय इसके मनुष्य तो उस उद्गम की खोज करने के निमित्त है, जहाँ से ये सारी वस्तुएँ आती हैं। *वेदान्त-सूत्र* की उक्ति है कि ब्रह्म वह है, जिससे प्रत्येक वस्तु का उद्भव होता है (*जन्माद्यस्य यत:*)। दार्शनिक, विज्ञानी, योगी, ज्ञानी तथा अध्यात्मवादी सभी प्रत्येक वस्तु के मूल स्रोत की खोज करने का प्रयास कर रहे हैं। *ब्रह्म-संहिता* में इस स्रोत को *सर्व-कारण-कारणम्* कहा गया है, अर्थात् श्रीकृष्ण समस्त कारणों के कारण हैं।

कृष्ण को प्रत्येक वस्तु का आद्य स्रोत समझ लेने पर महात्माजन कैसा आचरण करते हैं? कृष्ण स्वयं इसकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं :

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढ़व्रता:।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥

"ये महात्माजन नित्य-निरन्तर मेरा यशोगान करते हुए, दृढ़ निश्चयपूर्वक चेष्टा करते हुए तथा मुझे प्रणाम करते हुए भक्तिभाव से निरन्तर मेरी उपासना करते हैं।" (*भगवद्गीता* ९.१४)

वह यशोगान ही हरे कृष्ण का कीर्तन अर्थात् भक्तियोग की विधि है। महात्माजन ईश्वर की प्रकृति, उनके अवतार तथा उनके उद्देश्य को समझते हुए, अनेक प्रकार से उनका गुणगान करते हैं, किन्तु अन्य ऐसे लोग भी हैं, जो ईश्वर को नहीं मानते। कृष्ण ने नवम अध्याय में इनका भी उल्लेख किया है :

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥

"मैं जब मनुष्य-रूप में अवतरित होता हूँ, तो मूर्खजन मेरा उपहास करते हैं। वे मेरे दिव्य स्वभाव तथा मेरी सर्वोपरि परम सत्ता को नहीं जानते।" (*भगवद्गीता* ९.११)

मूढ़ जन, जो पशुओं से भी अधिक निकृष्ट हैं, भगवान् का उपहास करते हैं। जो व्यक्ति भगवान् में विश्वास नहीं करता, वह या तो पागल होगा या निरा मूर्ख। भगवान् में विश्वास न करने का कोई कारण है ही नहीं और उन पर विश्वास करने के लिए हर दृष्टि से कारण मौजूद हैं। कोई कह सकता है कि उसका भगवान्

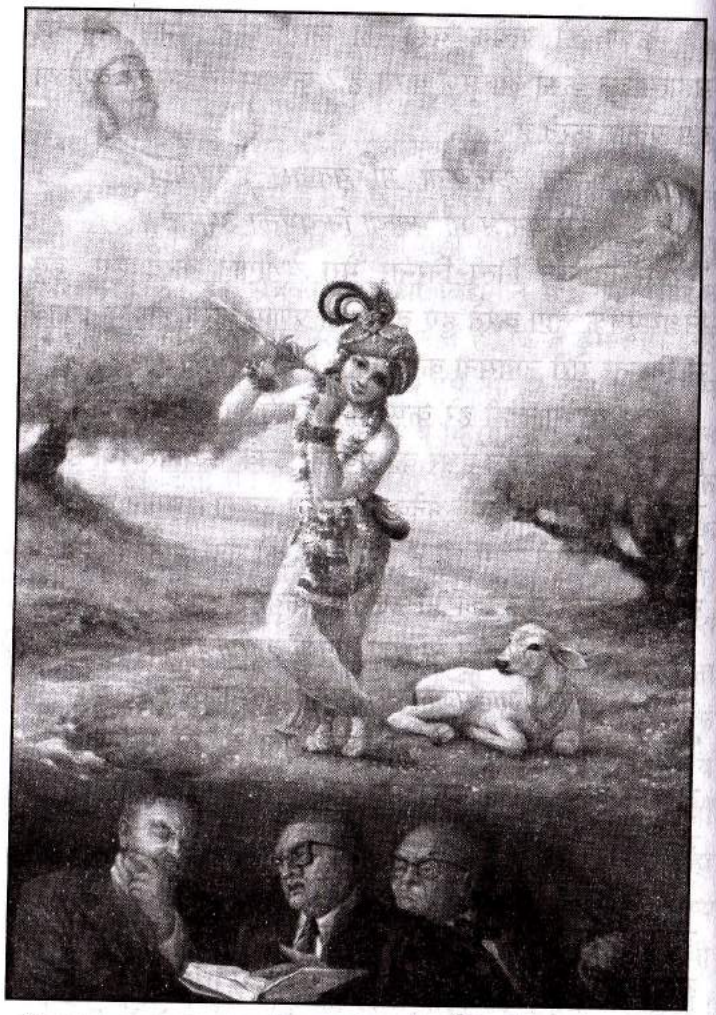

''मैं जब मनुष्य–रूप में अवतरित होता हूँ, तो मूर्खजन मेरा उपहास करते हैं। वे मेरे दिव्य स्वभाव तथा मेरी सर्वोपरि परम सत्ता को नहीं जानते।''

में विश्वास नहीं है, किन्तु उसे ऐसा कहने की शक्ति किसने प्रदान की है? जब मृत्यु आती है, तो यह वाग्शक्ति बन्द हो जाती है— तो फिर वाग्शक्ति देने वाला कौन है? क्या यह वाग्शक्ति पत्थर से स्वत: प्राप्त हुई है? ज्योंही परम सत्ता इस वाग्शक्ति को छीन लेती है, यह शरीर पत्थर से अधिक कुछ नहीं रह जाता। वाग्शक्ति का होना ही इस बात का प्रमाण है कि सब कुछ देने वाली कोई परम सत्ता है। कृष्णभावनाभावित मनुष्य जानता है कि जो कुछ भी उसके पास है, वह उसके अधीन नहीं है। यदि हम ईश्वर में विश्वास नहीं करते, तो हमें किसी-न-किसी शक्ति में तो विश्वास करना ही होगा, जो हमें पग-पग पर नियन्त्रित करती है। इस शक्ति को हम चाहे ईश्वर कहें अथवा प्रकृति या अन्य कुछ। ब्रह्माण्ड में एक नियामक शक्ति अवश्य है और कोई भी समझदार मनुष्य इससे इनकार नहीं कर सकता।

कृष्ण इस पृथ्वी पर विद्यमान थे और एक ऐसे मनुष्य की भाँति प्रकट हुए थे जिसमें अलौकिक शक्ति थी। किन्तु उस समय ९९% लोग उन्हें भगवान् के रूप में नहीं पहचान सके। उन्हें वे इसलिए नहीं पहचान पाये, क्योंकि उनके पास देखने वाली आखें न थीं (*परं भावम् अजानन्त:*)। भगवान् को पहचानना कैसे संभव हो पाता है? उन्हें अलौकिक शक्ति और शास्त्रों तथा विद्वानों के प्रमाणों से पहचाना जा सकता है। जहाँ तक कृष्ण का सम्बन्ध है, प्रत्येक वैदिक प्रमाण में उन्हें भगवान् के रूप में स्वीकार किया गया है। जब वे इस धराधाम में उपस्थित थे, तब उनके कार्यकलाप अलौकिक थे। यदि कोई इस पर विश्वास नहीं

करता, तो यह निष्कर्ष निकालना चाहिए कि चाहे जो भी प्रमाण दिया जाये, वह स्वीकार नहीं करेगा।

भगवान् को देख पाने के लिए आँखें भी होनी चाहिए। वे इन भौतिक इन्द्रियों से नहीं देखे जा सकते; अतः भक्तियोग वह विधि है जिसके द्वारा इन्द्रियों को पवित्र किया जा सकता है, जिससे हम समझ सकें कि भगवान् क्या हैं और कौन हैं। हममें देखने, सुनने, छूने, चखने आदि की शक्ति रहती है, किन्तु यदि ये इन्द्रियाँ भोथरी हों, तो भगवान् को नहीं समझा जा सकता। कृष्णभावनामृत की प्रक्रिया इन इन्द्रियों को विधिविधानों के द्वारा, विशेष रूप से हरे कृष्ण कीर्तन के द्वारा, प्रशिक्षित करने की विधि है।

श्रीकृष्ण मूढ़ों के और भी लक्षण बताते हैं :

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः॥

"जो इस प्रकार सम्मोहित हैं, वे आसुरी और अनीश्वरवादी विचारों से आकृष्ट होते हैं। उस मोहग्रस्त अवस्था में उनकी मुक्ति की आशाएँ, उनके सकाम कर्म और उनके ज्ञान का अनुशीलन आदि सभी कुछ निष्फल हो जाता है।" (*भगवद्गीता* ९.१२)

मोघाशा शब्द बताता है कि नास्तिकों के मनोरथ व्यर्थ हो जाएंगे। कर्मीजन सदैव अपनी इन्द्रियों की तुष्टि के लिए किसी न किसी अच्छी वस्तु की आशा रखते हैं। किन्तु ये कहाँ पर रुकेंगे इसकी कोई सीमा नहीं है। वे अपनी बैंक बचत बढ़ाने का प्रयत्न करते रहते हैं और आशा लगाए रहते हैं कि एक बिन्दु पर

पहुँच कर उन्हें सुख प्राप्त होगा, किन्तु वह बिन्दु कभी नहीं आ पाता, क्योंकि वे तुष्टि के चरम बिन्दु को नहीं जानते। जो लोग माया के आकर्षणों के वशीभूत हो जाते हैं, वे जीवन के परम उद्देश्य को नहीं समझ पाते। *मोघकर्माणः* शब्द सूचित करता है कि यद्यपि वे अत्यधिक श्रम करते हैं, किन्तु अन्त में उन्हें निराशा ही हाथ लगेगी। यदि हम कृष्णभावनामृत में सुदृढ़ रूप से स्थित नहीं हो लेते, तो हमारे सारे कार्यकलाप अन्त में व्यर्थ जाएंगे।

यह किसी सामान्य व्यक्ति का नहीं; वरन् यह तो स्वयं श्रीकृष्ण का निर्णय है। यदि हमें ज्ञान की खोज करनी है, तो हमें इस बात की खोज करनी चाहिए कि कृष्ण भगवान् हैं या नहीं। बिना किसी उद्देश्य के हजारों वर्ष के तर्कवितर्क से क्या लाभ? परमेश्वर इतने विराट हैं कि मनोधर्म से उन तक नहीं पहुँचा जा सकता। यदि हम मन तथा वायु की गति से लाखों वर्षों तक यात्रा करें, तो भी मनोधर्म द्वारा परमेश्वर तक पहुँच पाना दुष्कर होगा। ऐसा एक भी उदाहरण नहीं मिलता, जिसमें किसी ने मात्र अपने मनोधर्म द्वारा परम सत्य को प्राप्त किया हो। अतः *मोघज्ञानाः* शब्द इसका सूचक है कि सांसारिक ज्ञान की प्रक्रिया भ्रमित करने वाली है। सूर्यास्त होने के बाद् सूर्य का दर्शन कर पाना हमारे प्रयासों के परे है। हमें प्रातःकाल तक सूर्योदय होने की प्रतीक्षा करनी पड़ती है। यदि हम सूर्य जैसी भौतिक वस्तु को अपनी सीमित इन्द्रियों से देखने में असमर्थ हैं, तो भला अभौतिक पदार्थ को देख पाना कैसे सम्भव है? अपने स्वयं के प्रयास से कृष्ण को खोज पाना या समझ पाना हमारे लिए सम्भव नहीं है। इसके

लिए हमें कृष्णभावनामृत के द्वारा अपने आपको योग्य बनाना होगा और उनके प्रकट होने तक प्रतीक्षा करनी होगी।

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

"जो लोग निरन्तर मेरी भक्ति करते हैं और प्रेमपूर्वक मेरी आराधना करते हैं, उन्हें मैं ऐसी बुद्धि देता हूँ, जिससे वे मेरे पास आ सकते हैं।" (*भगवद्गीता* १०.१०)

कृष्ण हमारे भीतर हैं, किन्तु हमारी भौतिक बद्धावस्था के कारण हम इसका अनुभव नहीं कर पाते। जो राक्षसी तथा आसुरी प्रकृति के हैं (*राक्षसीम् आसुरीम्*) वे इस भौतिक जीवन को ही सर्वस्व समझते हैं और इसी को जीवन का लक्ष्य मानते हैं कि उससे जितना आनन्द उठाया जा सके, उठा लें। वे ऐसा करने का प्रयास तो करते हैं, किन्तु ऐसा करते हुए वे निरंतर पराजित होते रहते हैं। भौतिक प्रकृति का विदोहन करना वास्तविक आनन्द पाने की प्रक्रिया नहीं है। यदि हम वास्तविक आनन्द खोजना चाहते हैं, तो हमें कृष्णभावनामृत को अपनाना होगा। भौतिक जगत में समस्त सुखों का आदि और अन्त होता है, किन्तु कृष्ण में असीम सुख है और उसका अन्त नहीं होता। इस सुख की प्राप्ति के लिए हमें मात्र कुछ समय निकाल कर हरे कृष्ण का जप करना होगा। प्राचीनकाल में बड़े बड़े ऋषि-मुनि तथा देवतागण परमेश्वर के साक्षात्कार हेतु सारा जीवन लगा देते थे, तो भी सफलता हाथ नहीं लगती थी। इस युग के लिए चैतन्य महाप्रभु ने भगवद्-साक्षात्कार की एक सुगम विधि प्रदान की है।

इसके लिए केवल ध्यानपूर्वक श्रवण करना होता है। हमें *भगवद्गीता* को सुनना होगा, कृष्ण के नामों का जप करना होगा और उनका ध्यान से श्रवण करना होगा। हमें न तो अपने ज्ञान पर मिथ्या गर्व करना चाहिए, न ही अपने को बहुत विद्वान् समझना चाहिए। हमें कृष्ण के संदेश को सुनने के लिए कुछ विनम्र तथा आत्म-समर्पणशील होने की आवश्यकता है।

इस समय यह संसार राक्षसों द्वारा संचालित हो रहा है। राक्षस नरभक्षी होते हैं और अपनी इन्द्रियों की तुष्टि के लिए अपने ही पुत्रों तक को खा जाते हैं। अब राक्षसों की इन्द्रियों की तुष्टि हेतु अनेकानेक लोगों को कुचलने के लिए साम्राज्य बनाये गए हैं, किन्तु उन्हें इसकी अनुभूति नहीं होती कि इस प्रकार उनकी इन्द्रियों की तुष्टि कभी भी नहीं हो सकती। फिर भी अपनी सनक-पूर्ण इच्छाओं को पूरा करने के लिए ये राक्षस सब कुछ बलि चढ़ा देने के लिए उद्यत रहते हैं। उनके लिए वास्तविक स्थिति को समझ पाना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि वे भौतिक सभ्यता में बहुत अधिक अनुरक्त रहते हैं। तो फिर कौन इसे समझ सकता है? केवल महात्माजन जिनके हृदय विशाल हो चुके हैं, यह समझते हैं कि "प्रत्येक वस्तु भगवान् की है और मैं भी भगवान् का हूँ।"

ऐसे महात्मा भौतिक प्रकृति के अधीन नहीं होते (*महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः*)। ईश्वर महान् हैं और महान् की सेवा करने से महात्मा का हृदय भी महान् हो जाता है। महात्मा किसी राजनीतिक नेता की मोहर नहीं है। वोटों के बल

पर किसी पर महात्मा की मोहर नहीं लगती। महात्मा का मानदण्ड *भगवद्गीता* में दिया हुआ है—महात्मा वह है, जिसने भगवान् की उच्चतर शक्ति की शरण ले रखी है। निस्सन्देह, सारी शक्तियाँ भगवान् की हैं और वे आध्यात्मिक शक्ति तथा भौतिक शक्ति में कोई अन्तर नहीं करते। किन्तु बद्ध जीव के लिए भेद है, जो भौतिक शक्ति तथा आध्यात्मिक शक्ति के मध्य तटस्थ रूप से स्थित है। महात्माओं को यह अन्तर दिखता है, इसलिए वे आध्यात्मिक शक्ति (*दैवीं प्रकृतिम्*) की शरण ग्रहण करते हैं।

महान् की सेवा करने से महात्मागण भी स्वयं की आध्यात्मिक शक्ति से पहचान बना लेने के कारण महान् बन जाते हैं। (*अहं ब्रह्मास्मि*) "मैं ब्रह्म अर्थात् आत्मा हूँ।" ऐसा नहीं है कि वे अहंकारवश अपने को ईश्वर मानने लगते हैं। अपितु, यदि कोई ब्रह्म बन जाता है, तो उसे ब्रह्म जैसे कार्य प्रदर्शित करने ही पड़ते हैं। आत्मा तो सक्रिय है, अतः ब्रह्म बनने का अर्थ निष्क्रिय होना नहीं है। ब्रह्म आत्मा है और ये भौतिक शरीर केवल इसीलिए सक्रिय हैं, क्योंकि उनके भीतर ब्रह्म है। यदि हम भौतिक प्रकृति से संपर्क में होने के बावजूद सक्रिय रहते हैं, तो जब हम भौतिक कल्मष से अपने को शुद्ध कर लेते हैं और शुद्ध ब्रह्म के रूप में अपनी उचित पहचान स्थापित कर लेते हैं, तब क्या हम सक्रिय नहीं रह पाते? 'मैं ब्रह्म हूँ' इस बोध का अर्थ है आध्यात्मिक (आत्मिक) क्रियाशीलता में लगना, क्योंकि हम आत्मा हैं और पदार्थ से दूषित होने पर भी हमारी क्रियाशीलता प्रदर्शित होती रहती है। ब्रह्म होने का अर्थ शून्य होना नहीं है,

अपितु आध्यात्मिक प्रकृति अर्थात् आध्यात्मिक शक्ति और आध्यात्मिक कार्यकलापों में अपने आपको स्थापित करना है। ब्रह्म होने का अर्थ है भगवान् की भक्तिमय सेवा करने में पूर्णतया मग्न होना। इस प्रकार महात्मा यह समझता है कि यदि सेवा करनी ही है, तो कृष्ण की सेवा की जाए अन्य किसी की नहीं। इतने दिनों तक हमने अपनी इन्द्रियों की सेवा की है; अब हमें कृष्ण की सेवा करनी चाहिए।

सेवा बन्द करने का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि हम सेवा के लिए ही बने हैं। क्या कोई ऐसा भी व्यक्ति है, जो सेवा नहीं करता? यदि हम राष्ट्रपति से पूछें कि आप किसकी सेवा करते हैं, तो वह कहेगा अपने देश की। कोई भी सेवाविहीन नहीं है। हम सेवा बन्द नहीं कर सकते, किन्तु हमें अपनी सेवा को माया की ओर उन्मुख न करके वास्तविकता की ओर मोड़ लेना होता है। जब ऐसा कर लिया जाता है, तो हम महात्मा बन जाते हैं।

भगवान् के यशोगान के निरन्तर कीर्तन (*कीर्तयन्तः*) की प्रक्रिया महात्मा बनने की शुरुआत है। इस प्रक्रिया को भगवान् चैतन्य महाप्रभु ने सरल बना दिया है, जिन्होंने मानवता को हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे / हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे—का

कीर्तन प्रदान किया। भक्तिमय सेवा की नौ भिन्न-भिन्न विधियाँ हैं, जिनमें से *श्रवणम्* तथा *कीर्तनम्* अर्थात् सुनना और नाम-कीर्तन करना मुख्य है। *कीर्तनम्* का वास्तविक अर्थ है, "वर्णन करना।" हम संगीत, शब्द, चित्र आदि से वर्णन कर सकते हैं। श्रवणम् कीर्तनम् का साथी है, क्योंकि यदि हम सुनेंगे नहीं, तो वर्णन कैसे करेंगे? परमेश्वर को प्राप्त करने के लिए हमें किसी भौतिक योग्यता की आवश्यकता नहीं होती। हमें जो करना है, वह इतना ही है कि प्रामाणिक स्रोतों से सुनकर उसको सही-सही दोहराना।

पुराकाल में शिष्य गुरु से वेदों का श्रवण करता था; फलतः सारे वेद *श्रुति* कहलाये, जिसका अर्थ है, "वह जो सुना गया हो।" उदाहरणार्थ, *भगवद्गीता* में हम अर्जुन को युद्धस्थल में श्रीकृष्ण से सुनते हुए पाते हैं। वे वेदान्त-दर्शन का अध्ययन नहीं कर रहे थे। हम किसी भी स्थान में, यहाँ तक कि युद्धस्थल में भी, परम अधिकारी से सुन सकते हैं। ज्ञान प्राप्त किया जाता है, सृजित नहीं किया जाता। कुछ लोग सोचते हैं, "मैं उनसे क्यों सुनूँ? मैं अपने आप सोच सकता हूँ। मैं कुछ नया निर्मित कर सकता हूँ।" यह ज्ञान के अवतरण की वैदिक विधि नहीं है। ज्ञान की आरोही विधि के द्वारा मनुष्य अपने प्रयास से ऊपर उठने का प्रयत्न करता है, किन्तु ज्ञान की अवरोही विधि में मनुष्य किसी उत्तम स्रोत से ज्ञान प्राप्त करता है। वैदिक परम्परा में शिष्य को गुरु ज्ञान प्रदान करते हैं, जैसा कि *भगवद्गीता* में है (*एवं परम्परा-प्राप्तम् इमं राजर्षयो विदुः*)। आत्म-समर्पण करके

श्रवण करने में इतनी शक्ति होती है कि अधिकारी-स्रोतों से केवल श्रवण करके हम नितान्त परिपूर्ण बन सकते हैं। आत्म-समर्पण करने से हम अपनी अपूर्णताओं से परिचित हो लेते हैं। जब तक हम बद्ध स्थिति में होते हैं, हममें चार प्रकार की अपूर्णताएँ पायी जाती हैं—त्रुटियाँ करना, मोहग्रस्त होना, इन्द्रियों का अपूर्ण होना तथा धोखा देना अवश्यम्भावी है। अतः अपनी दोषपूर्ण इन्द्रियों तथा अनुभव के बल पर परम सत्य को समझने का प्रयास करना व्यर्थ है। हमें कृष्ण के किसी ऐसे प्रतिनिधि से श्रवण करना चाहिए, जो कृष्ण का भक्त हो। कृष्ण ने अर्जुन को अपना प्रतिनिधि बनाया, क्योंकि अर्जुन उनके भक्त थे—*भक्तोऽसि मे सखा चेति।* (*भगवद्गीता* ४.३)

भगवान् का भक्त बने बिना कोई उनका प्रतिनिधि नहीं हो सकता। जो सोचता है, "मैं भगवान् हूँ," वह प्रतिनिधि नहीं हो सकता। चूँकि हम भगवान् के ही अंश हैं, फलतः हमारे गुण उन्हीं के समान हैं, अतः यदि हम अपने इन गुणों का अध्ययन करें तो हम भगवान् के विषय में कुछ सीख लेते हैं। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि हम भगवान् के गुणों के परिमाण को समझते हैं। आत्म-साक्षात्कार की यह विधि भगवान् को समझने की विधियों में से एक है, किन्तु हम किसी भी दशा में यह उपदेश नहीं दे सकते कि "मैं भगवान् हूँ।" भगवान् की शक्तियों को प्रदर्शित करने की क्षमता रखे बिना हम भगवान् होने का दावा नहीं कर सकते। जहाँ तक कृष्ण की बात है, उन्होंने अपनी अतुल शक्ति का प्रदर्शन करके तथा अर्जुन को अपना विराट

स्वरूप दिखाकर सिद्ध कर दिया था कि वे भगवान् हैं। कृष्ण ने अपना यह महाविकराल रूप इसलिए प्रदर्शित किया था कि लोग अपने को भगवान् कहने का दावा करने में निरुत्साहित हो जायें। स्वयं को भगवान् घोषित करने वाले व्यक्तियों द्वारा हमें मूर्ख नहीं बनाया जाना चाहिए; हमें अर्जुन का अनुसरण करते हुए किसी को भगवान् स्वीकार करने के पूर्व उससे विराट स्वरूप प्रदर्शित करने का अनुरोध करना चाहिए। केवल एक मूर्ख ही किसी दूसरे मूर्ख को भगवान् के रूप में स्वीकार करेगा।

न तो कोई भगवान् के समान हो सकता है और न ही कोई उनसे बढ़कर। यहाँ तक कि ब्रह्मा तथा शिव जैसे सर्वोच्च देवता भी उनके अधीन हैं और उन्हें नमस्कार करते हैं। ध्यान या अन्य किसी विधि से भगवान् बनने का प्रयास करने के बजाय हमें चाहिए कि हम भगवान् के विषय में विनम्रतापूर्वक श्रवण करें और भगवान् को तथा उनके साथ अपने सम्बन्ध को समझने का प्रयास करें। भगवान् का प्रतिनिधि या भगवान् का अवतार अपने ईश्वर होने के बारे में कभी दावा नहीं करते, अपितु भगवान् का दास होने का दावा करते हैं। प्रामाणिक प्रतिनिधि का यही लक्षण है।

हमें प्रामाणिक स्रोतों से भगवान् के विषय में जो भी ज्ञान मिलता है, उसका वर्णन किया जा सकता है, और इससे हमें आध्यात्मिक प्रगति करने में सहायता मिलेगी। ऐसा वर्णन *कीर्तन* कहलाता है। हम जो भी सुनते हैं, यदि उसको दोहरायें तो हमारा ज्ञान सुस्थिर हो जाता है। *श्रवणं कीर्तनम्* की विधि से हम

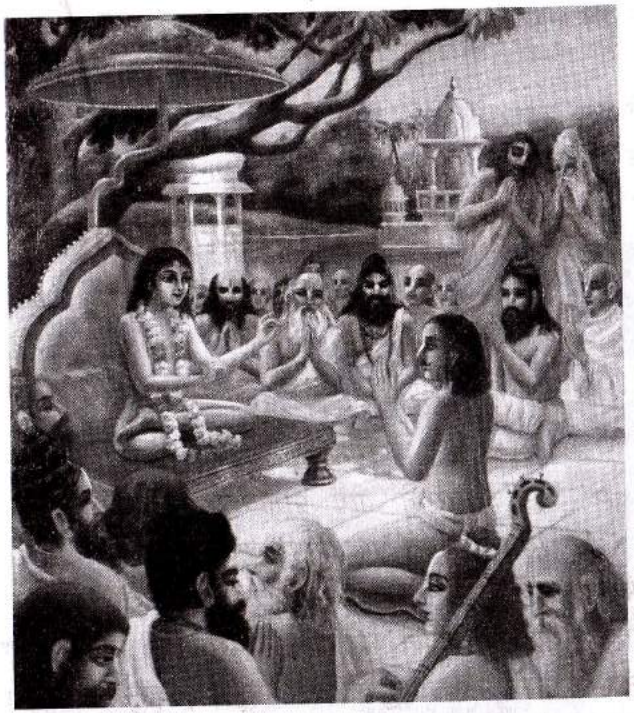

भवबन्धन से छूट सकते हैं और भगवान् के धाम को प्राप्त कर सकते हैं। इस युग में यज्ञ, चिन्तन या योग सम्पन्न कर पाना असम्भव है। हमारे लिए प्रामाणिक स्रोतों से विनम्रतापूर्वक श्रवण करने के अतिरिक्त अन्य कोई रास्ता खुला नहीं है। यही विधि है, जिससे महात्माओं ने परम गोपनीय ज्ञान प्राप्त किया है। इसी विधि से अर्जुन ने श्रीकृष्ण से यह ज्ञान प्राप्त किया और इसी विधि से हमें अर्जुन से चली आ रही शिष्य-परम्परा से इसे ग्रहण करना होगा।

५

परम्परा : गुरु-शिष्य परम्परा से प्राप्त ज्ञान

श्रीभगवानुवाच
इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥

"श्रीभगवान् ने कहा : मैंने योग के इस अविनाशी विज्ञान का उपदेश सूर्यदेव विवस्वान को दिया, विवस्वान ने इसका उपदेश मानव-जाति के जनक मनु को और मनु ने इक्ष्वाकु को दिया।" (*भगवद्गीता* ४.१)

अनेक युगों पूर्व कृष्ण ने *भगवद्गीता* का दिव्य ज्ञान सूर्यदेव विवस्वान को दिया। जहाँ तक हमें पता है, सूर्य अत्यन्त उष्ण स्थान है और वहाँ पर किसी का रह पाना असम्भव समझा जाता है। हम इस शरीर से सूर्य के बहुत निकट तक पहुँच भी नहीं सकते। किन्तु वैदिक साहित्य से हम यह जान सकते हैं कि सूर्य इसी ग्रह के समान एक ग्रह है, किन्तु वहाँ प्रत्येक वस्तु अग्नि से बनी है। जिस प्रकार हमारा लोक मुख्य रूप से पृथ्वी तत्त्व से

बना है, उसी प्रकार ऐसे अन्य लोक भी हैं जो प्रधान रूप से अग्नि, जल तथा वायु से बने हैं।

इन विविध लोकों के जीव उसी लोक के प्रधान तत्त्व के अनुरूप तत्त्वों से निर्मित शरीर धारण करते हैं; अतः सूर्य ग्रह के वासियों के शरीर अग्नि से निर्मित हैं। सूर्य के समस्त जीवों में

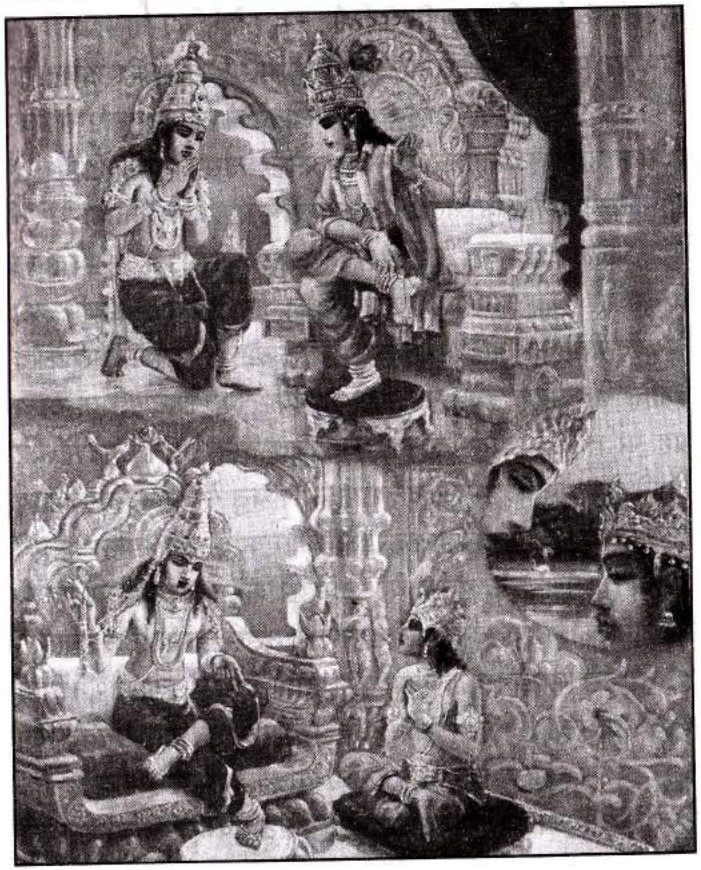

प्रधान व्यक्ति विवस्वान नाम के देवता हैं। उन्हें सूर्यदेव (सूर्य-नारायण) कहते हैं। समस्त लोकों में प्रधान व्यक्ति होते हैं, जिस प्रकार संयुक्त राज्य अमेरिका का प्रधान व्यक्ति राष्ट्रपति होता है। *महाभारत* नामक इतिहास-ग्रंथ से पता चलता है कि पुराकाल में इस लोक के एकमात्र राजा, महाराज भरत थे। उन्होंने लगभग ५,००० वर्ष पूर्व राज्य किया और इस लोक का नाम उन्हीं के नाम पर पड़ा। तत्पश्चात् यह पृथ्वी विभिन्न देशों में विभाजित हो गई। इस प्रकार ब्रह्माण्ड के विविध लोकों में सामान्य रूप से एक शासक होता है और कभी-कभी अनेक शासक होते हैं।

भगवद्गीता के चतुर्थ अध्याय के इस प्रथम श्लोक से हमें पता चलता है कि लाखों वर्ष पूर्व श्रीकृष्ण ने सूर्य देवता विवस्वान को कर्मयोग का ज्ञान प्रदान किया। अर्जुन को *भगवद्गीता* का उपदेश देने वाले श्रीकृष्ण यहाँ पर सूचित करते हैं कि ये उपदेश कोई नए नहीं हैं, किन्तु ये उपदेश एक अन्य ग्रह पर कई युग पूर्व दिए गए थे। विवस्वान ने इन उपदेशों को अपने पुत्र मनु के समक्ष दोहराया और मनु ने उन्हें अपने शिष्य इक्ष्वाकु को दिया। महाराज इक्ष्वाकु एक महान् राजा थे एवं भगवान् रामचन्द्र के पूर्वज थे। यहाँ इसे कहने का आशय यह है कि यदि कोई *भगवद्गीता* सीखना तथा उससे लाभ उठाना चाहता है, तो उसे समझने की एक विधि होती है, जिसका वर्णन यहाँ पर किया गया है। ऐसा नहीं है कि कृष्ण अर्जुन को *भगवद्गीता* का उपदेश पहली बार दे रहे हैं। वैदिक प्रमाण बताते हैं कि उन्होंने ये दिव्य उपदेश लगभग ४० कोटि वर्ष पूर्व विवस्वान को

दिये थे। *महाभारत* से हमें पता चलता है कि अर्जुन को *भगवद्गीता* का उपदेश लगभग ५,००० वर्ष पूर्व दिया गया था। अर्जुन के पूर्व ये उपदेश गुरु-शिष्य परम्परा से चले आ रहे थे, किन्तु इतने दीर्घ काल में ये उपदेश लुप्त हो गए।

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप॥
स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्॥

"इस प्रकार यह परम विज्ञान गुरु-शिष्य परम्परा के द्वारा प्राप्त किया गया और राजर्षियों ने इसी विधि से इसे जाना। किन्तु कालक्रम में वह परम्परा खण्डित हो गई, जिससे यह विज्ञान अपने यथार्थ रूप में लुप्तप्राय हो गया। परमेश्वर से सम्बन्ध का वही प्राचीन विज्ञान मैंने आज तुमसे कहा है क्योंकि तुम मेरे भक्त तथा मित्र हो; अतएव तुम इस विज्ञान के दिव्य रहस्य को समझ सकते हो।" (*भगवद्गीता* ४.२-३)

भगवद्गीता में अनेक प्रकार की योग-पद्धतियाँ बताई गई हैं—भक्तियोग, कर्मयोग, ज्ञानयोग, हठयोग और इसीलिए यहाँ पर इसे योग कहा गया है। योग शब्द का अर्थ है "जोड़ना" और भाव यह है कि योग में हम अपनी चेतना को ईश्वर से जोड़ते हैं। यह ईश्वर से पुनः जुड़ने या अपना सम्बन्ध ईश्वर से पुनःस्थापित करने का साधन है। कालक्रम में श्रीकृष्ण द्वारा प्रदत्त यह योग लुप्त हो गया। ऐसा क्यों हुआ? क्या जिस समय श्रीकृष्ण अर्जुन को उपदेश दे रहे थे, उस समय विद्वान ऋषि-मुनि वहाँ नहीं थे?

नहीं, उस समय अनेक ऋषि-मुनि विद्यमान थे। 'लुप्त' का अर्थ यह है कि *भगवद्गीता* का तात्पर्य (सार) लुप्त हो गया था। भले ही विद्वान लोग *भगवद्गीता* की अपनी-अपनी व्याख्या प्रस्तुत करें और अपनी अपनी सनकों के अनुसार इसका विवेचन करें, किन्तु वह *भगवद्गीता* नहीं होती। यही एक बात है जिस पर श्रीकृष्ण बल देकर कह रहे हैं और *भगवद्गीता* के अभ्यासी को इस पर ध्यान देना चाहिए। कोई व्यक्ति भौतिक दृष्टि से अच्छा विद्वान हो सकता है, किन्तु ऐसा होने से ही उसे *भगवद्गीता* पर टीका करने की योग्यता हासिल नहीं हो जाती। *भगवद्गीता* को समझने के लिए हमें गुरु-शिष्य परम्परा के सिद्धान्त को स्वीकार करना होगा। हमें *भगवद्गीता* के भाव में प्रविष्ट होना होगा, मात्र पाण्डित्य की दृष्टि से इसे नहीं देखना चाहिए।

श्रीकृष्ण ने इस ज्ञान प्राप्त करने के लिए सारे लोगों में से अर्जुन को ही सुपात्र क्यों समझा? अर्जुन न तो कोई महान् विद्वान थे, न योगी और न ही ध्यानी अथवा न ही पवित्रात्मा थे। वे तो युद्ध में लड़ने के लिए उद्यत शूरवीर थे। उस समय अनेक महान् ऋषि विद्यमान थे और श्रीकृष्ण *भगवद्गीता* का ज्ञान उन्हें प्रदान कर सकते थे। इसका उत्तर यह है कि सामान्य व्यक्ति होते हुए भी अर्जुन में एक बड़ी योग्यता थी— *भक्तोऽसि मे सखा चेति*—"तुम मेरे भक्त तथा सखा हो।" यह अर्जुन की अति विशेष योग्यता थी, जो ऋषियों में नहीं थी। अर्जुन को ज्ञात था कि कृष्ण पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं, अतः उन्हें अपना गुरु मानकर अर्जुन ने अपने आपको उनके शरणागत कर दिया।

भगवान् श्रीकृष्ण का भक्त बने बिना सम्भवतः कोई व्यक्ति *भगवद्गीता* को नहीं समझ सकता। यदि कोई *भगवद्गीता* को समझना चाहे, तो उसे अन्य साधनों से कोई सहायता नहीं मिल सकती। उसे *भगवद्गीता* में ही निर्धारित विधि से इसे समझना होगा, अर्थात् उसी प्रकार जिस प्रकार अर्जुन ने इसे समझा था। यदि हम भगवद्गीता को किसी भिन्न प्रकार से समझना चाहते हैं या इसकी अपनी व्यक्तिगत व्याख्या करना चाहते हैं, तो वह हमारे पाण्डित्य का प्रदर्शन हो सकता है, किन्तु वह *भगवद्गीता* नहीं है।

अपने पाण्डित्य से हम *भगवद्गीता* का कोई सिद्धान्त भले ही बना लें, जैसा कि महात्मा गाँधी ने अपने अहिंसा के सिद्धान्त की पुष्टि के लिए *भगवद्गीता* की अपनी व्याख्या की। *भगवद्गीता* से अहिंसा को किस प्रकार सिद्ध किया जा सकता है? *भगवद्गीता* की कथावस्तु ही यह है कि अर्जुन युद्ध के प्रति अनिच्छा प्रकट करता है और कृष्ण उसे अपने प्रतिद्वन्द्वियों का संहार करने के लिए प्रेरित कर रहे हैं। वस्तुतः कृष्ण अर्जुन को बताते हैं कि युद्ध का निर्णय परमेश्वर ने पहले ही कर दिया हुआ था कि युद्धभूमि में जितने योद्धा एकत्र हुए थे उनका विनाश पूर्वनिर्धारित था। यह तो कृष्ण की योजना थी कि सारे योद्धाओं की मृत्यु पूर्वनिर्धारित हो चुकी थी और कृष्ण ने अर्जुन को अवसर प्रदान किया कि वह उन सबको जीतने का श्रेय प्राप्त करे। यदि *भगवद्गीता* में युद्ध को अनिवार्य घोषित कर दिया गया हो, तो उससे अहिंसा को किस प्रकार सिद्ध किया जा

सकता है ? इस तरह की व्याख्याएं करना *भगवद्गीता* को विकृत करने का प्रयास है। ज्योंही *गीता* की व्याख्या किसी व्यक्ति के निजी मनोभाव के अनुसार की जाती है, उसका उद्देश्य लुप्त हो जाता है। कहा गया है कि हम अपने तर्क के बल पर वैदिक साहित्य का निष्कर्ष प्राप्त नहीं कर सकते। ऐसी अनेक बातें हैं, जो हमारी तर्कशक्ति की परिधि में नहीं आतीं। जहाँ तक शास्त्रों का प्रश्न है, विभिन्न शास्त्र भिन्न-भिन्न प्रकार से परम सत्य का वर्णन करते हैं। यदि हम उन सभी का विश्लेषण करें, तो भ्रान्ति उत्पन्न हो जाएगी। ऐसे अनेकों दार्शनिक हैं जिनके मत भिन्न-भिन्न हैं और वे सदैव एक दूसरे का खंडन करते रहते हैं। यदि विभिन्न शास्त्रों के पठन-पाठन, तर्क या दार्शनिक सिद्धान्तों के द्वारा सत्य को नहीं समझा जा सकता, तो फिर इसे किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है ? वास्तविकता तो यह है कि परम सत्य का ज्ञान अत्यन्त गोपनीय है, किन्तु प्रामाणिक विद्वानों का अनुसरण करके इसे प्राप्त किया जा सकता है।

भारतवर्ष में रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, निम्बार्क, विष्णुस्वामी तथा अन्य महान् ऋषियों की गुरु-शिष्य परम्पराएँ चली आ रही हैं। वैदिक साहित्य को श्रेष्ठ आध्यात्मिक गुरुओं से समझा जा सकता है। अर्जुन ने *भगवद्गीता* श्रीकृष्ण से समझी थी, और यदि हम *भगवद्गीता* को समझना चाहते हैं, तो हमें अन्य किसी स्रोत से न समझकर इसे अर्जुन से समझना चाहिए। यदि हमें *भगवद्गीता* का कुछ ज्ञान है, तो हमें यह देखना है कि वह अर्जुन के ज्ञान के साथ कितना मेल खाता है। यदि हम *भगवद्गीता* को

उसी प्रकार समझते हैं जैसे इसे अर्जुन ने समझा, तो हमें यह मान लेना चाहिए कि हम उसे ठीक से समझ रहे हैं। *भगवद्गीता* को पढ़ने की यही कसौटी होनी चाहिए। यदि हम *भगवद्गीता* से वास्तविक लाभ उठाना चाहते हैं, तो हमें इस सिद्धान्त का पालन करना होगा। *भगवद्गीता* ज्ञान का कोई सामान्य ग्रंथ नहीं है, जिसे हम बाजार से खरीद लायें, पढ़ डाला और मात्र शब्द-कोश की सहायता से उसका अर्थ समझ लिया। यह सम्भव नहीं है। यदि ऐसा ही होता तो कृष्ण अर्जुन से यह कभी न कहते कि यह विज्ञान लुप्त हो गया था।

भगवद्गीता को गुरु-शिष्य परम्परा से ग्रहण करने की आवश्यकता को समझना कठिन नहीं है। यदि हम वकील, इंजीनियर या डाक्टर बनना चाहते हैं, तो हमें प्रामाणिक वकीलों, इंजीनियरों तथा डाक्टरों से ज्ञान प्राप्त करना होता है। किसी नये वकील को अनुभवी वकील का सहायक (*अपरंटिस*) बनना पड़ता है; डाक्टरी पढ़ने वाले व्यक्ति को इन्टर्न (प्रशिक्षु) बनकर लाइसेन्सशुदा प्रैक्टीशनर के साथ काम करना होता है। किसी विषय का हमारा ज्ञान तब तक परिपूर्ण नहीं होगा, जब तक प्रामाणिक स्रोतों से उसे प्राप्त न-किया जाये।

ज्ञान प्राप्त करने की दो विधियाँ हैं—आगमनात्मक तथा निगमनात्मक। निगमनात्मक विधि अधिक पूर्ण समझी जाती है। हम यह पूर्वधारणा कर सकते हैं कि "सभी मनुष्य मर्त्य हैं," अत: इसकी विवेचना अनावश्यक है कि मनुष्य किस प्रकार से मर्त्य है। यह सामान्यतया स्वीकृत है कि स्थिति ऐसी ही है।

निगमनात्मक निष्कर्ष है : "जानसन महोदय एक मनुष्य हैं, अतः वे मर्त्य हैं।" किन्तु इस पूर्वधारणा तक किस प्रकार पहुँचा जाता है कि सभी मनुष्य मर्त्य हैं? आगमनात्मक विधि के मानने वाले इस पूर्वधारणा तक प्रयोग तथा निरीक्षण के आधार पर पहुँचना चाहते हैं। इस प्रकार हम यह अध्ययन कर सकते हैं कि यह मनुष्य मरा, वह मनुष्य मरा...आदि-आदि और यह देखकर कि इस तरह अनेक मनुष्य मर गये, हम यह व्यापक निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि सभी मनुष्य मर्त्य हैं। किन्तु इस आगमनात्मक विधि में एक बड़ा दोष यही है कि हमारा अनुभव सीमित होता है। हो सकता है कि हमने ऐसा व्यक्ति कभी न देखा हो, जो मर्त्य न हो, किन्तु हम अपने सीमित निजी अनुभव के आधार पर यह निर्णय दे रहे होते हैं। हमारी इन्द्रियों की शक्ति सीमित है और हमारी बद्ध-अवस्था में अनेक दोष हैं। फलस्वरूप आगमनात्मक विधि सर्वदा पूर्ण नहीं होती, जबकि पूर्ण ज्ञान के स्रोत से निस्सृत निगमनात्मक विधि पूर्ण होती है। वैदिक विधि ऐसी ही विधि है।

यद्यपि *भगवद्गीता* प्रमाणस्वरूप है, किन्तु उसमें ऐसे अनेक उद्धरण हैं जो अत्यन्त रूढ़िवादी प्रतीत होते हैं। उदाहरणार्थ, सातवें अध्याय में श्रीकृष्ण कहते हैं :

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥

"हे धन के विजेता (अर्जुन), मुझसे श्रेष्ठ कोई सत्य नहीं है। सब कुछ मुझ पर हा आश्रित है जिस प्रकार सूत्र में पिरोये गये मोती।" (*भगवद्गीता* ७.७)

श्रीकृष्ण कह रहे हैं कि उनसे बढ़कर कोई प्रमाण नहीं है। यह कथन अत्यन्त रूढ़िवादी प्रतीत होता है। यदि मैं कहूँ कि "मुझसे बड़ा कोई नहीं," है तो लोग सोचेंगे कि "अरे! स्वामी जी बड़े घमंडी हैं।" यदि अनेक अपूर्णताओं से युक्त बद्ध-पुरुष यह कहे कि वह सबसे महान् है, तो यह ईश निन्दा है। किन्तु कृष्ण ऐसा कह सकते हैं, क्योंकि इतिहास साक्षी है कि जब वे इस धराधाम पर उपस्थित थे, तब भी वे अपने समय के महानतम व्यक्ति माने जाते थे। निस्सन्देह, वे क्रियाशीलता के समस्त क्षेत्रों में सर्वोपरि थे।

वैदिक प्रणाली के अनुसार उसी ज्ञान को पूर्ण समझा जाना चाहिए, जिसे महानतम अधिकारी से प्राप्त किया जाये। वेदों के अनुसार प्रमाण तीन प्रकार के होते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द। एक तो सीधा प्रत्यक्ष दृश्य प्रमाण होता है। यदि कोई व्यक्ति मेरे समक्ष बैठा है, तो मैं उसे वहाँ बैठा देख सकता हूँ और मुझे उसके बैठने का ज्ञान अपने नेत्रों से होता है। यह प्रत्यक्ष प्रमाण है। दूसरी विधि अनुमान है जो श्रव्य है। हम बच्चों को बाहर खेलते सुन सकते हैं और सुनकर हम अनुमान लगा सकते हैं कि वे वहाँ पर हैं। तीसरी विधि है किसी उच्च सत्ता से सत्य ग्रहण करना। "मनुष्य मर्त्य है" इस प्रकार की उक्ति श्रेष्ठ अधिकारियों से ग्रहण की जाती है। इसे प्रत्येक व्यक्ति स्वीकार करता है, किन्तु इसका अनुभव किसी ने नहीं किया कि सब मनुष्य मर्त्य हैं। परम्परावश हमें इसे स्वीकार करना होता है। यदि कोई पूछे कि, "इस सत्य की खोज सर्वप्रथम किसने की? क्या

यह तुम्हारी खोज है?" तो कुछ कह पाना कठिन होगा। हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि यह ज्ञान परम्परा से चला आ रहा है और हम इसे स्वीकार करते हैं। ज्ञानार्जन की इन तीनों विधियों में से तृतीय विधि को—अर्थात् श्रेष्ठ अधिकारियों से ज्ञान प्राप्त करने की विधि को—वेदों ने सर्वश्रेष्ठ माना है। प्रत्यक्ष ज्ञान सदैव अधूरा होता है, विशेष रूप से तब, जब जीवन बद्धावस्था में हो। प्रत्यक्ष ज्ञान से हम देख सकते हैं कि सूर्य एक तश्तरी की भाँति है और वह खाने की तश्तरी से बड़ा नहीं है। किन्तु वैज्ञानिकों से हमें यह ज्ञात होता है कि सूर्य पृथ्वी की अपेक्षा हजारों गुना बड़ा है। तो फिर हम किसे स्वीकार करें? वैज्ञानिक घोषणा, प्रामाणिक घोषणा अथवा अपना निजी अनुभव? यद्यपि हम स्वयं यह सिद्ध नहीं कर सकते कि सूर्य कितना बड़ा है, किन्तु खगोल शास्त्रियों के निर्णय को हम मान लेते हैं। इस प्रकार हम जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अधिकारियों के कथनों को मानते आ रहे हैं। समाचार-पत्रों तथा रेडियो से भी हमें पता चलता रहता है कि चीन, भारत या पृथ्वी के अन्य भागों में अमुक-अमुक घटनाएँ घटित हो रही हैं। इन घटनाओं का हम प्रत्यक्ष अनुभव नहीं करते और न ही हम यह जानते हैं कि ये घटनाएँ वास्तव में घट भी रही हैं या नहीं, किन्तु हम समाचार-पत्रों तथा रेडियो के प्रमाण को स्वीकार कर लेते हैं। ज्ञान प्राप्त करने के लिए अधिकारियों के कथन को स्वीकार करने के अतिरिक्त हमारे लिए कोई दूसरा उपाय नहीं है। और जब अधिकारी पूर्ण होता है, तो हमारा ज्ञान भी पूर्ण होता है।

वैदिक स्रोतों के अनुसार समस्त अधिकारियों (प्रमाणों) में से कृष्ण महानतम तथा पूर्णतम हैं (*मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय*)। न केवल कृष्ण ही अपने आपको सर्वोपरि सत्ता घोषित करते हैं, किन्तु महान् ऋषिगण तथा *भगवद्गीता* के विद्वान भी इसे स्वीकार करते हैं। यदि हम कृष्ण को अधिकारी के रूप में स्वीकार नहीं करते तथा उनके वचनों को यथारूप ग्रहण नहीं करते, तो हम *भगवद्गीता* से कोई लाभ प्राप्त नहीं कर सकते। यह रूढ़िवाद नहीं है, यह एक तथ्य है। यदि हम विश्लेषणात्मक रूप से कृष्ण के कथनों का अध्ययन करें, तो हमें पता चलेगा कि यह सत्य है। पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् से भिन्न मत रखने वाले शंकराचार्य जैसे विद्वानों तक ने स्वीकार किया है कि कृष्ण स्वयं भगवान्—परम ईश्वर—हैं।

वैदिक ज्ञान कोई नूतन खोज नहीं है। यह सब प्राचीन सिद्ध-ज्ञान है। कृष्ण इसे *पुरातनः* अर्थात् प्राचीन बताते हैं। कृष्ण कहते हैं कि लाखों वर्ष पूर्व उन्होंने सूर्यदेव को यह योग बताया और हमें इसका पता नहीं कि उससे भी कितने लाखों वर्ष पूर्व उन्होंने इसे अन्य किसी को बताया होगा। इस ज्ञान की निरन्तर पुनरावृत्ति होती रहती है, जिस प्रकार ग्रीष्म, शरद्, शिशिर तथा वसन्त ऋतुएँ प्रतिवर्ष आती रहती हैं। हमारी ज्ञानराशि अत्यन्त अल्प है; हम इस ग्रह के पाँच हजार वर्षों से अधिक पुराने इतिहास तक को नहीं जानते। किन्तु वैदिक साहित्य हमें लाखों वर्षों का प्राचीन इतिहास प्रदान करता है। चूँकि हमें इसका भी ज्ञान नहीं कि तीन हजार वर्ष पूर्व इस लोक में क्या घटित हुआ,

मात्र इसी कारण हम यह निष्कर्ष नहीं निकाल सकते कि तब कोई इतिहास विद्यमान न था। निस्सन्देह, कोई चाहे तो कृष्ण को ऐतिहासिक सत्य न भी माने। कोई यह भी कह सकता है कि जब महाभारत के अनुसार कृष्ण पाँच हजार वर्ष पूर्व हुए, तो फिर इतने लाखों वर्ष पूर्व उन्होंने *भगवद्गीता* का ज्ञान सूर्यदेव को कैसे दिया होगा? यदि मैं कहूँ कि लाखों वर्ष पूर्व मैंने सूर्यलोक में सूर्यदेव को प्रवचन दिया था तो लोग कहेंगे कि स्वामीजी कुछ उटपटांग कह रहे हैं। किन्तु कृष्ण के साथ ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि वे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं। भले ही हम इसे स्वीकार करें या नहीं कि कृष्ण ने सूर्यदेव से *भगवद्गीता* कही, किन्तु तथ्य तो यह है कि अर्जुन ने इसे स्वीकार किया है। अर्जुन ने कृष्ण को परम भगवान् के रूप में स्वीकार किया है, अतः उन्हें यह ज्ञात था कि उस समय से लाखों वर्ष पूर्व कृष्ण द्वारा किसी को उपदेश दिया जाना बिल्कुल संभव था। यद्यपि अर्जुन स्वयं तो श्रीकृष्ण के कथन को स्वीकार करते हैं, किन्तु अपने बाद में आने वाली पीढ़ी को स्थिति से अवगत कराने के उद्देश्य से वे स्पष्टीकरण के रूप में पूछते हैं :

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति॥

"सूर्यदेव विवस्वान का जन्म तो आपसे पहले हुआ; तो फिर मैं यह कैसे समझूँ कि प्रारम्भ में आपने उन्हें इस विद्या का उपदेश दिया?" (*भगवद्गीता* ४.४)

वास्तव में यह अत्यन्त बुद्धिमत्तापूर्ण प्रश्न है, जिसका उत्तर

कृष्ण इस प्रकार देते हैं :

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप॥

"हे परंतप! हम दोनों ने अनेकानेक जन्म बिताये हैं। मैं उन सबों को स्मरण कर सकता हूँ, किन्तु तुम नहीं कर सकते।" (*भगवद्गीता* ४.५)

यद्यपि कृष्ण भगवान् हैं, तथापि वे बारम्बार अवतरित होते हैं। जीवात्मा होने के कारण अर्जुन भी अनेक बार जन्म लेते हैं। पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् तथा जीवात्मा में अन्तर यह है कि—*तान्यहं वेद सर्वाणि*—कृष्ण को अपने गत अवतारों की घटनाएँ याद हैं, किन्तु जीवात्मा स्मरण नहीं रख सकता। भगवान् तथा मनुष्य में यह एक अन्तर है। ईश्वर नित्य हैं और हम भी नित्य हैं, किन्तु अन्तर यह है कि हम हर बार अपना शरीर बदलते रहते हैं। मृत्यु होने पर हम अपने जीवनकाल की सारी घटनाएँ भूल जाते हैं। मृत्यु का अर्थ होता है, विस्मृति। रात्रि में सो जाने पर हमें यह स्मरण नहीं रहता कि हम अमुक स्त्री के पति तथा अमुक-अमुक बच्चों के पिता हैं। निद्रा में हम अपने आप को भूल जाते हैं, किन्तु जब हम जागते हैं, तो स्मरण हो आता है, "अरे! मैं तो अमुक हूँ और मुझे अमुक-अमुक काम करने हैं।" यह वास्तविकता है कि पिछले जन्मों में हमें अन्य देशों में अन्य परिवारों, माताओं और पिताओं इत्यादि के साथ अन्य शरीर मिले थे, किन्तु हमें इन सब का स्मरण नहीं होता है। हो सकता है कि हम कुत्ते या बिल्ली, मनुष्य या देवता रहे हों, किन्तु हम जो कुछ

भी थे, अब हम यह सब भूल गये हैं।

इतने परिवर्तनों के होते हुए भी, जीवात्मा के रूप में हम नित्य हैं। जिस प्रकार विगत जन्मों में हमने इस वर्तमान शरीर के लिए तैयारी की थी, ठीक उसी प्रकार इस जीवन में हम एक अन्य शरीर की तैयारी कर रहे हैं। हमें अपना शरीर अपने कर्मों के अनुसार मिलता है। जो व्यक्ति सत्त्वगुणी हैं, वे उच्चतर लोकों में जीवन के उच्च पदों पर भेज दिए जाते हैं (*भगवद्गीता* १४.१४)। जो व्यक्ति रजोगुण के भाव में मरते हैं, वे पृथ्वी पर रहते हैं और जो लोग तमोगुण के भाव में मरते हैं, वे पशु योनि में भेजे जा सकते हैं या निम्न लोक में भेजे जा सकते हैं (*भगवद्गीता* १४.१५)। यह प्रक्रिया निरन्तर चलती आ रही है, किन्तु हम इसे भूल जाते हैं।

किसी समय स्वर्ग के राजा इन्द्र ने अपने आध्यात्मिक गुरु के चरणों में अपराध किया, तो गुरु ने उन्हें शूकर के शरीर में जन्म लेने का शाप दे दिया। जब इन्द्र शूकर बनने के लिए पृथ्वीलोक चले गये, तो स्वर्गलोक का सिंहासन खाली हो गया। यह स्थिति देखकर ब्रह्मा पृथ्वी पर आये और उन्होंने शूकर को सम्बोधित करते हुए कहा, "हे महोदय, आप पृथ्वी पर शूकर बन गए हो। मैं आपका उद्धार करने आया हूँ। आप इसी समय मेरे साथ चलो।" लेकिन शूकर ने जवाब दिया, "मैं आपके साथ नहीं जा सकता। मेरे अनेक प्रकार के उत्तरदायित्व हैं—मेरे बच्चे हैं, पत्नी है और यह सुन्दर शूकर-समाज है।" यद्यपि ब्रह्मा ने इन्द्र को स्वर्गलोक वापस ले जाने का वचन दिया, किन्तु शूकर-

रूप इन्द्र ने वहाँ जाने से इनकार कर दिया। यही विस्मृति है। इसी प्रकार श्रीकृष्ण आते हैं और हमसे कहते हैं, "तुम इस भौतिक संसार में क्या कर रहे हो? *सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।* मेरे पास आओ और मैं तुम्हारी हर प्रकार से रक्षा करूँगा।" किन्तु हम कहते हैं, "हे महोदय, मैं आप पर विश्वास नहीं करता। मुझे यहाँ अत्यन्त आवश्यक कार्य करने हैं।" बद्ध जीव की यह स्थिति है—विस्मृति। गुरु-शिष्य परम्परा के मार्ग का अनुसरण करने से यह विस्मृति तुरन्त दूर हो जाती है।

"हे भरत के वंशज, जब-जब धर्म का पतन होता है और अधर्म का उत्थान होता है, तब-तब मैं स्वयं अवतरित होता हूँ। भक्त जनों का उद्धार, दुष्टों का नाश तथा धर्म की पुनःस्थापना करने के लिए ही मैं युग-युग में प्रकट होता हूँ।"

६

कृष्ण के प्राकट्य तथा कार्यों का ज्ञान

हमारे भीतर प्रकृति की दो शक्तियाँ कार्य कर रही हैं। एक के द्वारा हम यह निश्चय करते हैं कि हम इस जीवनकाल में आध्यात्मिक उन्नति करेंगे, किन्तु दूसरे ही क्षण, दूसरी शक्ति माया कहती है, "तुम यह सारा कष्ट किस लिए उठाने जा रहे हो? इस जीवन का भोग करो और आराम से रहो।" विस्मृति के गर्त में गिरने की यह प्रवृत्ति ही ईश्वर तथा मनुष्य के बीच का अन्तर है। अर्जुन श्रीकृष्ण के सखा हैं, अतः जब भी किसी लोक में कृष्ण प्रकट होते हैं, तो साथ-साथ अर्जुन भी जन्म लेते हैं और उनके साथ प्रकट होते हैं। जब कृष्ण ने *भगवद्गीता* का उपदेश सूर्यदेव को दिया, तो उनके साथ अर्जुन भी उपस्थित थे, किन्तु बद्ध सीमित जीव होने के कारण अर्जुन को इसका स्मरण नहीं रहा। विस्मृति जीवात्मा का यह स्वभाव है। हमें इसका भी सही-सही स्मरण नहीं रह पाता कि कल या एक सप्ताह पूर्व ठीक इसी

समय हम क्या कर रहे थे। यदि हम इतना भी स्मरण नहीं रख सकते तो भला विगत जीवनों में जो कुछ घटित हुआ, उसे कैसे याद रख सकते हैं? यहाँ पर हम यह पूछ सकते हैं कि यह कैसे होता है कि कृष्ण तो स्मरण रख सकते हैं और हम नहीं रख सकते? इसका उत्तर यह है कि कृष्ण अपना शरीर नहीं बदलते।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥

"यद्यपि मैं अजन्मा हूँ और मेरा दिव्य शरीर कभी नष्ट नहीं होता, और यद्यपि मैं सभी चेतन जीवों का स्वामी हूँ, फिर भी मैं प्रत्येक युग में अपने आद्य दिव्य रूप में प्रकट होता हूँ।" (*भगवद्गीता* ४.६)

आत्ममायया शब्द का अर्थ यह है कि कृष्ण अपने वास्तविक स्वरूप में अवतरित होते हैं। वे अपना शरीर नहीं बदलते, किन्तु बद्ध जीव होने के कारण हम अपना शरीर बदलते रहते हैं, जिसके कारण हम भूलते रहते हैं। कृष्ण न केवल अपने भूत, वर्तमान तथा भावी कार्यों को जानने वाले हैं, वरन् प्रत्येक जीव के भूत, वर्तमान तथा भावी कर्मों को जानते हैं।

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन॥

"हे अर्जुन! पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् होने के कारण मैं पूर्वकाल के, वर्तमान के तथा भविष्य के समस्त घटना-चक्र को जानता हूँ। मैं सब जीवों को भी जानता हूँ, किन्तु मुझे कोई नहीं जानता।" (*भगवद्गीता* ७.२६)

श्रीमद्भागवत में भी हम पाते हैं कि परमेश्वर को सर्वज्ञ के रूप में परिभाषित किया गया है। किन्तु ऐसा ब्रह्मा तथा शिव जैसे सर्वश्रेष्ठ उन्नत जीवात्माओं के विषय में भी नहीं किया गया है। केवल विष्णु या कृष्ण ही प्रत्येक वस्तु जानते हैं। हम यह भी पूछ सकते हैं कि यदि भगवान् अपना शरीर नहीं बदलते हैं, तो वे अवतार के रूप में क्यों आते हैं? इस प्रश्न को लेकर दार्शनिकों में काफी मतभेद है। कुछ का कहना है कि जब कृष्ण अवतरित होते हैं, तो वे भौतिक शरीर धारण करते हैं, किन्तु ऐसा नहीं होता। यदि उन्होंने हमारी भाँति भौतिक शरीर धारण किया होता, तो उन्हें भी स्मरण न रह पाता, क्योंकि विस्मृति तो भौतिक शरीर के कारण है। वास्तविक निष्कर्ष तो यह है कि वे अपना शरीर नहीं बदलते। ईश्वर सर्वशक्तिमान कहे जाते हैं और उपर्युक्त श्लोक में उनकी सर्वशक्तिमत्ता की व्याख्या की गई है। कृष्ण जन्म नहीं लेते और वे शाश्वत हैं। इसी प्रकार जीवात्मा भी जन्म नहीं लेता और वह भी शाश्वत है। जन्म केवल शरीर ही लेता है, जिसके साथ जीवात्मा अपनी पहचान स्थापित कर लेता है।

भगवद्गीता के प्रारम्भ में ही द्वितीय अध्याय में कृष्ण व्याख्या करते हैं कि जिसे हम जन्म तथा मृत्यु कहते हैं, वह शरीर के कारण है। ज्योंही हमें अपने आध्यात्मिक शरीर की पुनः प्राप्ति हो जाती है और हम जन्म-मृत्यु के कल्मष से बाहर निकल आते हैं, त्योंही हम गुणात्मक रूप से कृष्ण-जैसे हो जाते हैं। कृष्णभावनामृत की सारी प्रक्रिया यही है—अपने आदि सच्चिदानन्द आध्यात्मिक शरीर की पुनःप्राप्ति। वह शरीर *सत्*

(शाश्वत), *चित्* (ज्ञानमय) और आनन्दमय है। यह भौतिक शरीर न तो *सत्*, न *चित्*, न ही *आनन्द* है। यह तो मर्त्य है, जबकि शरीर में रहने वाला व्यक्ति अमर है। यह अज्ञान से भी भरा हुआ है, और अज्ञानी तथा नश्वर होने के कारण कष्टों से युक्त है। हम भौतिक शरीर के ही कारण घोर ताप या घोर शीत का अनुभव करते हैं, किन्तु ज्योंही हमें आध्यात्मिक शरीर पुनः प्राप्त हो जाता है, हमें ऐसे द्वन्द्व प्रभावित नहीं करते। भौतिक शरीर के भीतर रहते हुए ऐसे भी कुछ योगी हैं, जो ताप तथा शीत जैसे द्वन्द्वों से प्रभावित नहीं होते। भौतिक शरीर में रहते हुए जब हम आध्यात्मिक उन्नति करने लगते हैं, तो हममें आध्यात्मिक शरीर के गुण आने लगते हैं। यदि हम लोहे को अग्नि में रखते हैं, तो यह गर्म होकर लाल होने लगता है और अन्त में लोहा न रह कर अग्नि बन जाता है, और इससे जो कुछ भी छू जाता है उसमें से लपटें निकलने लगती हैं। जैसे जैसे हम कृष्णभावनामृत में प्रगति करेंगे, हमारा भौतिक शरीर आध्यात्मिकतामय बनता जाएगा और उसे भौतिक कल्मष प्रभावित नहीं कर पाएंगे।

कृष्ण के जन्म, प्राकट्य तथा तिरोधान की तुलना सूर्य के उदय होने तथा अस्त होने से की जाती है। प्रातःकाल ऐसा प्रतीत होता है मानो सूर्य पूर्वी क्षितिज से जन्म ले रहा हो, किन्तु वास्तव में ऐसा होता नहीं। सूर्य न तो उदय होता है, न ही अस्त; वह अपनी ही स्थिति में रहता है। उदय तथा अस्त की सभी क्रियाएँ पृथ्वी के भ्रमण के कारण हैं। इसी प्रकार वैदिक साहित्य में श्रीकृष्ण के प्राकट्य तथा तिरोधान का निर्धारित कार्यक्रम दिया

हुआ है। कृष्ण का प्राकट्य सूर्य जैसा ही है। सूर्य का उदय तथा अस्त होना प्रतिक्षण चलता रहता है। संसार में कहीं लोग सूर्योदय देखते हैं तो कहीं सूर्यास्त। ऐसा नहीं है कि किसी एक बिन्दु पर कृष्ण का जन्म होता है और दूसरे बिन्दु पर उनका तिरोधान होता है। वे सदैव कहीं-न-कहीं रहते ही हैं, किन्तु वे आते-जाते प्रतीत होते हैं। कृष्ण अनेक ब्रह्माण्डों में प्रकट होते तथा अन्तर्धान होते रहते हैं। हमें केवल इसी एक ब्रह्माण्ड का अनुभव है, किन्तु वैदिक साहित्य से हमें पता चलता है कि यह ब्रह्माण्ड परमेश्वर के अनन्त अविर्भावों का अंशमात्र है।

यद्यपि कृष्ण परमेश्वर हैं तथा अजन्मा एवं अपरिवर्तनशील हैं, किन्तु वे अपने आद्य चिन्मय रूप में प्रकट होते हैं। एक शब्द आता है 'प्रकृति'। *भगवद्गीता* के सप्तम अध्याय में कहा गया है कि प्रकृति के अनेक प्रकार हैं। इसे तीन मौलिक श्रेणियों में विभाजित किया गया है—बहिरंगा प्रकृति, अन्तरंगा प्रकृति तथा तटस्था प्रकृति। बहिरंगा प्रकृति इस भौतिक जगत का प्राकट्य है और *भगवद्गीता* के सातवें अध्याय में इसे ही *अपरा* या भौतिक प्रकृति कहा गया है। जब कृष्ण प्रकट होते हैं, तो वे निम्न भौतिक प्रकृति को नहीं, अपितु उच्चतर प्रकृति (*प्रकृतिं-स्वाम्*) को स्वीकार करते हैं। कभी-कभी राज्याध्यक्ष बन्दीगृह में जाकर निरीक्षण करता है और वहाँ के बन्दियों को भी देखता है, किन्तु यदि बन्दी यह सोचें कि "राज्याध्यक्ष जेल में आया है, अतः वह भी हमारे समान बन्दी है" तो वे गलत सोच रहे होंगे। जैसा कि पहले इंगित किया जा चुका है, श्रीकृष्ण कहते हैं कि जब वे

मनुष्य रूप में अवतरित होते हैं, तो मूर्खजन उनका उपहास करते हैं। (*भगवद्गीता* ९.११)

परमेश्वर होने के कारण कृष्ण यहाँ कभी भी प्रकट हो सकते हैं और हम आपत्ति करके नहीं कह सकते कि उन्हें आने की मनाही है। वे पूर्णरूपेण स्वतन्त्र हैं और इच्छानुसार जब चाहें तब आ सकते हैं और अन्तर्धान हो सकते हैं। यदि राज्याध्यक्ष बन्दीगृह देखने जाता है, तो हम ऐसा नहीं कह सकते कि उन्हें ऐसा करने के लिए बाध्य किया गया होगा। कृष्ण किसी उद्देश्य के साथ आते हैं, वह है पतित बद्ध जीवों का उद्धार करना। कृष्ण को हम नहीं, अपितु कृष्ण हमें प्यार करते हैं। वे प्रत्येक प्राणी को अपना पुत्र मानते हैं।

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥

"हे कुन्तीपुत्र, सब प्रकार की योनियों में जितने भी शरीर उत्पन्न होते हैं, उन सबका उत्पत्ति स्थान तो यह भौतिक प्रकृति है और मैं उनका बीजदाता पिता हूँ।" (*भगवद्गीता* १४.४)

पिता पुत्र के प्रति सदैव वत्सल होता है। पुत्र भले ही पिता को भूल जाये, किन्तु पिता अपने पुत्र को कभी नहीं भूल सकता। कृष्ण हमारे प्रेमवश, हमें जन्म और मृत्यु के क्लेशों से उबारने के लिए इस भौतिक जगत में अवतरित होते है। वे कहते हैं, "मेरे प्रिय पुत्रों! तुम इस दुःखमय संसार में क्यों सड़ रहे हो? मेरे पास आओ। मैं सब प्रकार से तुम्हारी रक्षा करूँगा।" हम भगवान् के पुत्र हैं और किसी क्लेश तथा सन्देह से रहित, ठाठ

से जीवन का उपभोग कर सकते हैं। अतः हमें यह नहीं सोचना चाहिए कि कृष्ण भी प्रकृति के नियमों के वशीभूत होकर हमारी तरह यहाँ आते हैं। संस्कृत शब्द *अवतार* का शाब्दिक अर्थ है, "जो उतरता है।" जो स्वेच्छा से आध्यात्मिक ब्रह्माण्ड से इस भौतिक ब्रह्माण्ड में उतर आता है, वह अवतार कहलाता है। कभी श्रीकृष्ण स्वयं अवतरित होते हैं और कभी वे अपना प्रतिनिधि भेजते हैं। संसार के प्रमुख धर्म—ईसाई, हिन्दू, बौद्ध तथा मुस्लिम—किसी न किसी परम सत्ताधीश या पुरुष को ईश्वर के धाम से अवतरित होते मानते हैं। ईसाई धर्म में ईसामसीह ने स्वयं को ईश्वर का पुत्र घोषित किया है और बद्ध जीवों के उद्धार हेतु ईश्वर के धाम से आने का दावा किया है। *भगवद्गीता* के अनुयायी होने के कारण हम इस दावे को सत्य मानते हैं। अतः मूलरूप से इसमें कोई मतभेद नहीं है। विस्तार में जाने पर संस्कृति, जलवायु तथा निवासियों में अन्तर होने के कारण कुछ अन्तर भले ही पाये जाएं, किन्तु मूल सिद्धान्त जैसे का तैसा रहता है कि ईश्वर या उनके प्रतिनिधि बद्ध जीवों को उबारने के लिए आते हैं।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानम् सृजाम्यहम्॥

"हे भरत के वंशज, जब-जब धर्म का पतन होता है और अधर्म का उत्थान होता है, तब-तब मैं स्वयं अवतरित होता हूँ।" (*भगवद्गीता* ४.७)

ईश्वर अत्यन्त दयालु हैं। वे हमारे कष्टों का अन्त होते देखना

चाहते हैं, किन्तु हम इन कष्टों के साथ समझौता करने का प्रयास करते हैं। चूँकि हम परमेश्वर के अंश हैं, अत: हम इन कष्टों के लिए नहीं बनाये गये हैं, किन्तु किसी न किसी तरह हमने स्वेच्छा से इन्हें स्वीकार कर लिया है। कष्ट तीन तरह के हैं—शरीर तथा मन से उत्पन्न, अन्य जीवों से उत्पन्न तथा प्राकृतिक आपदाओं से उत्पन्न। हम इन तीनों प्रकार के कष्टों से या इन तीनों में से किसी-न-किसी एक से पीड़ित रहते हैं। हम इन कष्टों का हल निकालने का सदैव प्रयत्न करते रहते हैं और यह प्रयास ही हमारे जीवन-संघर्ष को जन्म देता है। इसका हल हमारे छोटे से मस्तिष्क के बूते का नहीं। इसका हल तो परमेश्वर की शरण ग्रहण करने पर ही प्राप्त हो सकता है।

हम तभी सुखी रह सकते हैं, जब हम अपनी वैधानिक स्थिति को पुन: प्राप्त कर लें और इस स्थिति को प्राप्त करने का साधन *भगवद्गीता* है। ईश्वर तथा उनके प्रतिनिधि भी हमारी सहायता करने आते हैं। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, वे परा प्रकृति से इस भौतिक संसार में अवतरित होते हैं और उन पर जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि के कोई भी नियम लागू नहीं होते। श्रीकृष्ण अर्जुन को संसार में अपने अवतार लेने के निम्नलिखित कारण बतलाते हैं :

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

"भक्त जनों के उद्धार, दुष्टों के नाश तथा धर्म की पुन:स्थापना करने के लिए ही मैं युग-युग में प्रकट होता हूँ।" (*भगवद्गीता* ४.८)

यहाँ पर कृष्ण बताते हैं कि जब-जब धर्म का ह्रास होता है, तब-तब वे प्रकट होते हैं। 'धर्म' शब्द का अनुवाद अंग्रेजी में 'फेथ' (श्रद्धा) के रूप में किया गया है, किन्तु 'फेथ' का अर्थ तो ईसाई, मुस्लिम, हिन्दू, बौद्ध इत्यादि नाम से जानी जाने वाली धार्मिक प्रणालियों के लिए किया जाने लगा है। किन्तु धर्म शब्द का अर्थ 'फेथ' नहीं होता है। किसी व्यक्ति की श्रद्धा हिन्दू से बौद्ध, ईसाई या मुस्लिम आदि में बदल सकती है। लोगों में सामर्थ्य है कि वे कोई एक श्रद्धा स्वीकार करें और दूसरी का परित्याग कर दें, किन्तु *धर्म* बदला नहीं जा सकता। प्रत्येक व्यक्ति का स्वभाव है, अपनी, अपने परिवार, अपने समाज, राष्ट्र या मानवता की सेवा करना। यह सेवाभाव जीवात्मा से कभी विलग नहीं हो सकता और इसी से प्रत्येक जीवात्मा के धर्म की सृष्टि होती है। बिना सेवा किए किसी का अस्तित्व सम्भव नहीं। यह संसार इसीलिए चल रहा है, क्योंकि हम सेवा का आदान-प्रदान करते रहते हैं। हमें भूल जाना चाहिए कि हम ईसाई हैं अथवा मुस्लिम हैं या हिन्दू। हमें तो यह समझना चाहिए कि हम जीव हैं जिसकी वैधानिक स्थिति यह है कि वह परम पूर्ण व्यक्ति की सेवा करे। जब हममें यह समझ आ जाती है, तब हम मुक्त हो जाते हैं।

मुक्ति या मोक्ष उन नश्वर उपाधियों से छुटकारा पाना है, जिन्हें हमने भौतिक प्रकृति के साथ जुड़े रहने से अर्जित किया है। मुक्ति इससे अतिरिक्त और कुछ नहीं है। भौतिक शरीर धारण करने के कारण हम इतनी सारी उपाधियाँ ग्रहण कर लेते हैं। इस

प्रकार हम अपने को मनुष्य, पिता, अमरीकी, ईसाई, हिन्दू आदि कहते हैं। यदि हम वास्तव में मुक्त होना चाहते हैं, तो हमें इन उपाधियों का परित्याग करना होगा। किसी भी दशा में हम स्वामी नहीं हैं। इस समय हम सेवा तो कर रहे हैं, किन्तु उपाधियों को साथ में लेकर सेवा कर रहे हैं। हम अपनी पत्नी के, परिवार, काम-धंधे, अपनी इन्द्रियों, अपनी सन्तान तथा, यदि सन्तान नहीं है तो अपने कुत्तों, बिल्लियों के सेवक हैं। हर हालत में हमें किसी न किसी की सेवा करनी होती है। यदि हमारे पत्नी या सन्तान नहीं होती है तो सेवा करने के लिए हम कोई कुत्ता या कोई अन्य छोटे-मोटे जानवर पाल लेते हैं। यह हमारा स्वभाव है। ऐसा करने के लिए हम बाध्य होते हैं। अन्त में जब हम इन उपाधियों से मुक्त हो जाते हैं और भगवान् की दिव्य प्रेमामयी सेवा करने लगते हैं, तो हमें सिद्धावस्था प्राप्त हो जाती है। तब हम अपने वास्तविक *धर्म* में प्रस्थापित हो जाते हैं।

इस प्रकार श्रीकृष्ण का कथन है कि जब कभी जीवात्माओं के *धर्म* में कोई त्रुटि आ जाती है अर्थात् जब कभी जीवात्माएँ परमेश्वर की सेवा करना बन्द कर देती हैं, तो वे प्रकट होते हैं। दूसरे शब्दों में, जब जीवात्मा अपनी इन्द्रियों की सेवा करने में ही पूरी तरह लगा रहता है और इन्द्रियतृप्ति में अधिकाधिक संलग्न रहने लगता है, तो भगवान् प्रकट होते हैं। उदाहरणार्थ, जब भारत में लोग पशुहत्या में अत्यधिक आसक्त होने लगे, तो अहिंसा की स्थापना के लिए भगवान् बुद्ध अवतरित हुए। इसी प्रकार उपर्युक्त श्लोक में श्रीकृष्ण कहते हैं कि वे साधुओं की रक्षा करने के लिए आते हैं (*परित्राणाय साधूनाम्*)। साधुओं की विशेषता है कि वे अन्य समस्त जीवात्माओं के प्रति सहिष्णु होते हैं। समस्त असुविधाओं तथा संकटों के होने पर भी वे जनता को वास्तविक ज्ञान प्रदान करने का प्रयत्न करते हैं। साधु किसी विशेष समाज, सम्प्रदाय या देश का मित्र नहीं होता, अपितु वह सभी का मित्र होता है—न केवल मनुष्यों का वरन् पशुओं तथा निम्न योनि के जीवों का भी। संक्षेप में, साधु किसी का शत्रु नहीं होता। वह सभी का मित्र होता है। फलस्वरूप वह सदैव शान्त रहता है। भगवान् के लिए सब कुछ बलिदान कर देने वाले ऐसे व्यक्ति भगवान् को अत्यन्त प्रिय हैं। यद्यपि साधुजन अपने अपमान की परवाह नहीं करते, किन्तु कृष्ण उनके किसी अपमान को सहन नहीं कर पाते। जैसा कि *भगवद्गीता* के नवम अध्याय में कहा गया है, कृष्ण सभी के प्रति समभाव रखते हैं, फिर भी वे अपने भक्तों पर विशेष कृपालु रहते हैं :

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

"न मुझे किसी से द्वेष है, न मैं किसी के साथ पक्षपात करता हूँ। मैं सभी के लिए समान हूँ। किन्तु जो कोई भक्तिपूर्वक मेरी सेवा करता है वह मेरा मित्र है, मुझमें स्थित है और मैं भी उसका मित्र हूँ।" (*भगवद्गीता* ९.२९)

यद्यपि कृष्ण सभी के प्रति निष्पक्ष हैं, किन्तु जो कृष्णभावनामृत में सदा संलग्न रहता है और जो *भगवद्गीता* के संदेश का प्रसार करता है, उसे वे विशेष संरक्षण प्रदान करते हैं। श्रीकृष्ण का यह वचन है कि उनके भक्त का कभी नाश नहीं होता—*कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति।* (*भगवद्गीता* ९.३१)

कृष्ण केवल अपने भक्तों की रक्षा करने तथा उन्हें बचाने के लिए ही नहीं आते, वे दुष्टों का विनाश करने के लिए भी आते हैं (*विनाशाय च दुष्कृताम्*)। कृष्ण अर्जुन तथा पाँचों पांडवों को विश्व का शासक बनाना चाहते थे, क्योंकि वे अत्यन्त पवित्र क्षत्रिय थे और उनके भक्त थे। साथ ही वे दुर्योधन के नास्तिक दल का उन्मूलन करना चाहते थे। उनके प्रकट होने का तीसरा कारण, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, वास्तविक धर्म की स्थापना करना होता है (*धर्म संस्थापनार्थाय*)। इस तरह श्रीकृष्ण के अवतरित होने के तीन प्रयोजन होते हैं—वे अपने भक्तों की रक्षा करते हैं, दुष्टों का विनाश करते हैं और जीवात्मा के वास्तविक धर्म की स्थापना करते हैं। वे केवल एक बार नहीं,

अपितु बारम्बार अवतरित होते हैं (*सम्भवामि युगे युगे*), क्योंकि यह भौतिक संसार ऐसा है कि सन्तुलन स्थापित हो जाने पर भी कालान्तर में यह फिर गड़बड़ा जाएगा।

यह संसार ऐसा बनाया गया है कि चाहे हम कितनी ही अच्छी व्यवस्था क्यों न करें, उसमें शनै-शनै गिरावट आ जाती है। प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् सन्धिपत्र पर हस्ताक्षर हुए, और थोड़े समय के लिए शान्ति आई, किन्तु शीघ्र ही द्वितीय विश्व युद्ध आ धमका और अब जब वह समाप्त हो गया है, तो तृतीय विश्व युद्ध की तैयारियाँ हो रही हैं। इस भौतिक संसार में यह सब काल की करनी है। हम एक सुन्दर-सा घर बनाते हैं, किन्तु पचास वर्ष बाद यह जीर्ण-शीर्ण हो जाता है और सौ वर्षों के बाद तो और भी जीर्ण-शीर्ण हो जाता है। इसी प्रकार जब तक यह शरीर तरुण रहता है, तब तक लोग इसकी परवाह करते हैं, इस पर प्यार की वृद्धि करते रहते और सहलाते हैं, किन्तु जब यह वृद्ध हो जाता है तो कोई भी इसकी परवाह नहीं करता। इस भौतिक संसार का यही स्वभाव है—कितना ही संतुलन क्यों न बनाया जाये, कालक्रम में वह नष्ट हो ही जाएगा। फलतः समय-समय पर सन्तुलन बनाये रखने की आवश्यकता होती है और युग-युग में सभ्यता में सन्तुलन बनाये रखने के लिए परमेश्वर या उनके प्रतिनिधि आविर्भूत होते रहते हैं। इस प्रकार श्रीकृष्ण विभिन्न धर्मों की स्थापना या पुनरुत्थान करने के लिए अनेक बार अवतरित होते हैं।

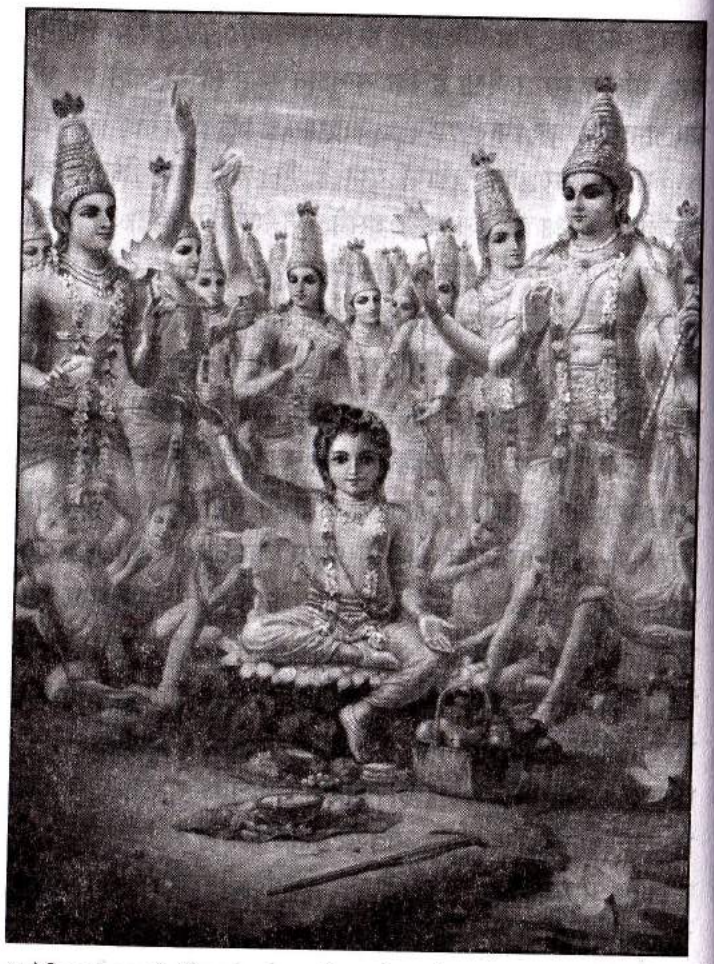

"गोविन्द नाम से विख्यात कृष्ण ही परमेश्वर हैं। उनका शरीर सनातन, आनन्दमय तथा आध्यात्मिक है। वे सर्वस्व के मूल स्रोत हैं। वे समस्त कारणों के कारणस्वरूप हैं, उनका कोई उद्गम नहीं है।"

७

गुरु में श्रद्धा तथा कृष्ण-शरणागति रूपी ज्ञान

भगवद्गीता के चतुर्थ अध्याय में श्रीकृष्ण इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि समस्त यज्ञों में ज्ञानार्जन ही सर्वोत्कृष्ट यज्ञ है।

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥

"हे परन्तप, द्रव्ययज्ञ से ज्ञानयज्ञ बेहतर है, क्योंकि हे पार्थ, अन्ततोगत्वा यज्ञ के रूप में किये गए सारे कर्मों की समाप्ति दिव्य ज्ञान में ही होती है।" (*भगवद्गीता* ४.३३)

ज्ञान सर्वोत्तम यज्ञ है, क्योंकि यह बद्ध जीवन अज्ञान के कारण है। यज्ञ, तप, योग तथा दार्शनिक विवेचना का उद्देश्य ज्ञानार्जन है। दिव्य ज्ञान की तीन अवस्थाएँ हैं, जिनसे भगवान् के निराकार पक्ष का साक्षात्कार (ब्रह्म-साक्षात्कार) अपने हृदय तथा प्रत्येक परमाणु के भीतर स्थित अन्तर्यामी परमात्मा का साक्षात्कार (परमात्मा-साक्षात्कार) तथा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान्

का साक्षात्कार (भगवान् का-साक्षात्कार) किया जा सकता है। किन्तु ज्ञानार्जन की सब से पहली सीढ़ी यह जानना है कि, "मैं यह शरीर नहीं हूँ। मैं आत्मा हूँ और मेरे जीवन का लक्ष्य इस भव-बन्धन से छुटकारा पाना है।" बात यह है कि हम जो भी यज्ञ करते हैं, उसका उद्देश्य हमें वास्तविक ज्ञान तक पहुँचाने के लिए समर्थ बनाना होता है। *भगवद्गीता* (७.१९) में बताया गया है कि ज्ञान की परम पूर्णता कृष्ण की शरण ग्रहण करना है (*बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते*)। जो ज्ञानवान है, मूर्ख नहीं, वही कृष्ण की शरण में जाता है, और यही ज्ञान की चरम अवस्था है। इसी प्रकार *भगवद्गीता* के अन्त (१८.६६) में श्रीकृष्ण अर्जुन को उपदेश देते हैं :

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

"सब प्रकार के धर्मों को त्याग कर एकमात्र मेरी शरण में आओ। मैं तुम्हें सम्पूर्ण पापों के फल से मुक्त कर दूँगा, भयभीत न हो।" (भगवद्गीता १८.६६)

ज्ञान का यह गुह्यतम अंश है। यदि हम वैदिक साहित्य का सभी पहलुओं से विश्लेषणात्मक अध्ययन करें, तो हम पाएँगे कि ज्ञान का सर्वोच्च शिखर कृष्ण की शरणागति है। और किस प्रकार की शरणागति की संस्तुत की गई है? पूर्ण ज्ञान में समर्पण—जब कोई पूर्णावस्था को प्राप्त होता है, तो उसे समझ लेना चाहिए कि वासुदेव कृष्ण ही सब कुछ हैं। इसकी पुष्टि *ब्रह्म-संहिता* (५.१) में भी की गयी है :

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः।
अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम्॥

"गोविन्द नाम से विख्यात कृष्ण ही परमेश्वर हैं। उनका शरीर सनातन, आनन्दमय तथा आध्यात्मिक है। वे सर्वस्व के मूल स्रोत हैं। वे समस्त कारणों के कारणस्वरूप हैं, उनका कोई उद्गम नहीं है।"

सर्वकारण शब्द सूचित करता है कि कृष्ण समस्त कारणों के कारण हैं। यदि हम यह खोजें कि हमारे पिता के पिता और उनके पिता कौन हैं और इसी प्रकार और पीछे की ओर हमारी वंश-परम्परा को खोजना सम्भव हो सके, तो हम परम पिता पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् तक पहुँच जाएंगे।

निस्सन्देह, प्रत्येक व्यक्ति ईश्वर का तत्क्षण दर्शन करना चाहता है, किन्तु हम इसके योग्य होने पर तथा पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने पर ही ईश्वर का दर्शन कर सकते हैं। हम ईश्वर को अपने समक्ष वैसे ही देख सकते हैं, जिस तरह हम एक दूसरे को देखते हैं, किन्तु इसके लिए योग्यता चाहिए और वह योग्यता कृष्णभावनामृत ही है। कृष्णभावनामृत का प्रारम्भ *श्रवणम्* से होता है, जो *भगवद्गीता* तथा अन्य वैदिक साहित्य के माध्यम से कृष्ण के विषय में सुनना तथा *कीर्तनम्* है, जिसमें हमने जो कुछ सुना है उसे दोहराना तथा कृष्ण के नामों के कीर्तन द्वारा गुणगान करना होता है। कृष्ण के कीर्तन तथा श्रवण से हम सचमुच ही उनका संग प्राप्त कर सकते हैं, क्योंकि वे परम पूर्ण हैं तथा अपने नामों, गुणों, रूपों तथा अपनी लीलाओं से अभिन्न

हैं। ज्यों-ज्यों हम कृष्ण से सम्बन्ध स्थापित करते हैं, त्यों-त्यों वे हमें उन्हें समझने में सहायता करते हैं और ज्ञान के प्रकाश से अज्ञान का अन्धकार दूर करते हैं। कृष्ण हमारे हृदयों में स्थित हैं और गुरु की भाँति कार्य करते हैं। जब हम उनकी कथाएँ सुनने लगते हैं, तो हमारे मनों में अनेकों वर्ष से एकत्र हुई भौतिक कल्मष की धूल क्रमशः दूर होने लगती है। कृष्ण सबके मित्र हैं, किन्तु वे अपने भक्तों के विशेष मित्र हैं। ज्योंही हम उनकी ओर थोड़ा उन्मुख होने लगते हैं, त्योंही वे हमारे अन्तःस्तल से अनुकूल आदेश देना प्रारम्भ कर देते हैं, जिससे हम धीरे-धीरे उन्नति कर सकें। कृष्ण आदि गुरु हैं और जब हमारी रुचि उनके प्रति बढ़ जाती है, तो हमें किसी साधु या पवित्र व्यक्ति के पास जाना पड़ता है, जो बाहर से गुरु का कार्य करता है। इसका आदेश श्रीकृष्ण ने स्वयं निम्नलिखित श्लोक में दिया है।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

"आध्यात्मिक गुरु के पास पहुँच कर सत्य सीखने का प्रयत्न करो। उनसे नम्रतापूर्वक जिज्ञासा करो और उसकी सेवा करो। स्वरूप-सिद्ध गुरु तुम्हें ज्ञान प्रदान कर सकते हैं, क्योंकि उन्होंने सत्य को देखा है।" (*भगवद्गीता* ४.३४)

हमें ऐसा व्यक्ति चुनना आवश्यक है जिसकी शरण ग्रहण की जा सके। निस्सन्देह, कोई किसी की शरण नहीं जाना चाहता। हममें जो कुछ भी थोड़ा ज्ञान रहता है, उससे हम गर्वित रहते हैं और हमारा भाव यही रहता है कि, "*मुझे* कौन ज्ञान दे

सकता है?" कुछ लोगों का कहना है कि आत्म-साक्षात्कार के लिए किसी गुरु की आवश्यकता नहीं होती है, किन्तु जहाँ तक वैदिक साहित्य का प्रश्न है और जहाँ तक *भगवद्गीता, श्रीमद्भागवत* और *उपनिषदों* का सम्बन्ध है, किसी आध्यात्मिक गुरु की आवश्यकता होती है। भौतिक जगत में भी यदि कोई संगीतज्ञ बनना चाहता है, तो उसे शिक्षा ग्रहण करने के लिए किसी संगीतज्ञ की खोज करनी पड़ती है अथवा यदि कोई इंजीनियर बनना चाहता है, तो उसे किसी प्रौद्योगिक विद्यालय में जाकर प्रौद्योगिकी जानने वालों से ज्ञानार्जन करना होता है। इसी तरह कोई बाजार से मात्र पुस्तक खरीद कर तथा घर में उसे पढ़कर डाक्टर नहीं बन सकता। उसे किसी चिकित्सा-महाविद्यालय में प्रवेश लेकर अधिकृत डाक्टरों से प्रशिक्षण लेना पड़ता है। किसी प्रमुख विषय को मात्र पुस्तकें खरीद कर तथा उन्हें घर में पढ़कर नहीं सीखा जा सकता। हमें किसी न किसी ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता होती है, जो हमें पुस्तकों में प्राप्य ज्ञान को व्यवहार में लाने का तरीका बता सके। जहाँ तक ईश्वरी विज्ञान का प्रश्न है, पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं उपदेश देते हैं कि हम ऐसे व्यक्ति के पास जाएं, जिसकी हम शरण ग्रहण कर सकें। इसका अर्थ यह हुआ कि हमें इसका पता लगाना पड़ता है कि कौन व्यक्ति *भगवद्गीता* तथा भगवत् साक्षात्कार सम्बन्धी अन्य साहित्यों का उपदेश देने में समर्थ है। ऐसा नहीं है कि हम ऊटपटाँग ढंग से आध्यात्मिक गुरु की खोज करें। हमें विषय को वास्तव में जानने वाले व्यक्ति को ढूँढ़ने में अत्यन्त

गम्भीर होना चाहिए।

भगवद्गीता के प्रारम्भ में अर्जुन श्रीकृष्ण से मित्र के समान बात करते थे और कृष्ण यह प्रश्न कर रहे थे कि योद्धा होकर वह किस तरह युद्ध से विमुख हो सकता है। किन्तु जब अर्जुन ने देखा कि मित्रतापूर्ण बातों से उनकी समस्याओं का कोई हल नहीं निकलेगा, तो उन्होंने यह कहते हुए कृष्ण की शरण ग्रहण की—*शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्*—"अब मैं आपका शिष्य हूँ और आपकी शरण में आया हूँ। कृपा करके मुझे उपदेश दें।" (*भगवद्गीता* २.७) यही विधि है। ऐसा नहीं है कि हम आँख मूँद कर शरणागत बनें, अपितु हममें बुद्धिपूर्वक जिज्ञासा करने की योग्यता होनी चाहिए।

जिज्ञासा के बिना हम प्रगति नहीं कर सकते। जो विद्यार्थी पाठशाला में गुरु से प्रश्न पूछता रहता है, वह सामान्यतया बुद्धिमान होता है। जब छोटा बच्चा अपने पिता से पूछता है कि, "यह क्या है? वह क्या है?" तो सामान्यतया इसे बुद्धिमानी का लक्षण माना जाता है। हमें कितने ही अच्छे गुरु क्यों न मिल जाए, किन्तु यदि हममें प्रश्न करने की योग्यता नहीं है, तो हम उन्नति नहीं कर सकते। प्रश्न चुनौती की भाँति भी नहीं होना चाहिए। मनुष्य को यह नहीं सोचना चाहिए कि, "देखता हूँ कि वह कैसा गुरु है। मैं उसे ललकारूँगा।" हमारे सारे प्रश्न (*परिप्रश्नेन*) सेवा के भाव के साथ (*सेवया*) होने चाहिए। बिना सेवा के हमारे सारे प्रश्न व्यर्थ हैं, किन्तु प्रश्न पूछने के पूर्व हममें कुछ योग्यता होनी चाहिए। यदि हम किसी दुकान पर सोना या

आभूषण खरीदने जाएँ और यदि सोने तथा रत्नों के विषय में कुछ भी न जानते हो, तो हमारे ठगे जाने की सम्भावना रहती है। यदि हम किसी सर्राफ के पास जाएँ और कहें, "क्या आप मुझे एक हीरा दे सकेंगे?" तो वह समझ जायेगा कि यह एक मूर्ख है। वह हमसे किसी वस्तु के लिए जितना चाहे मूल्य ले सकता है। इस प्रकार की खोज से बिल्कुल काम नहीं चलेगा। पहले हमें थोड़ा बुद्धिमान बनना होगा, क्योंकि इसके बिना आध्यात्मिक उन्नति कर सकना सम्भव नहीं है।

वेदान्त-सूत्र का पहला आदेश है—*अथातो ब्रह्मजिज्ञासा*—"अब ब्रह्म के विषय में जिज्ञासा करने का समय है।" *अथ* शब्द का अर्थ है, जो बुद्धिमान है और जिसने भौतिक जीवन की मूल हताशाओं को जान लिया है, वह प्रश्न करने में समर्थ है। *श्रीमद्भागवत* में कहा गया है कि मनुष्य को चाहिए वह अपने आध्यात्मिक गुरु से उन विषयों के सम्बन्ध में पूछे जो 'इस अंधकार के परे' हैं। यह भौतिक संसार स्वभाव से ही अन्धकारपूर्ण है; इसे कृत्रिम रूप से अग्नि द्वारा प्रकाशित किया जाता है। हमारे प्रश्न उन दिव्य लोकों के विषय में होने चाहिए, जो इस ब्रह्माण्ड के परे स्थित हैं। यदि कोई इन आध्यात्मिक लोकों के विषय में जानने का इच्छुक है, तो उसे आध्यात्मिक गुरु की खोज करनी चाहिए, अन्यथा खोज करने का कोई अर्थ नहीं है। यदि मैं भौतिक उन्नति करने के लिए *भगवद्गीता* या *वेदान्त-सूत्र* का अध्ययन करना चाहूँ, तो मुझे आध्यात्मिक गुरु ढूँढ़ने की आवश्यकता नहीं है। मनुष्य को पहले ब्रह्म के विषय

में जिज्ञासा करनी चाहिए और तब ऐसा गुरु खोजना चाहिए, जिसे परम सत्य का पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो (*ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः*)। कृष्ण परम तत्त्व हैं—परम सत्य हैं। *भगवद्गीता* के सप्तम अध्याय में श्रीकृष्ण कहते हैं :

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

"हजारों मनुष्यों में से कोई एक पूर्णता के लिए प्रयत्न करता है और इन सिद्ध हुए पुरुषों में से कोई दुर्लभ मनुष्य ही सचमुच मुझे जानता है।" (*भगवद्गीता* ७.३)

इस प्रकार अनेक सिद्धि-प्राप्त अध्यात्मवादियों में से कोई विरला ही कृष्ण को सही ढंग से जान पाता है। जैसा कि इस श्लोक में उल्लेख है, कृष्णतत्त्व की विषय-वस्तु इतनी सरल नहीं अपितु अत्यन्त दुष्कर है। तथापि *भगवद्गीता* यह भी इंगित करती है कि यह सरल है :

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥

"केवल भक्तिमय सेवा के द्वारा ही पुरुषोत्तम परमेश्वर को यथार्थ रूप में जाना जा सकता है। इस प्रकार भक्ति से जब कोई परमेश्वर को पूरी तरह जान लेता है, तो वह भगवान् के धाम में प्रवेश कर सकता है।" (*भगवद्गीता* १८.५५)

यदि हम भक्तिमय सेवा की प्रक्रिया को स्वीकार कर लें, तो हम कृष्ण को सुगमता से समझ सकते हैं। इससे हम कृष्ण के तत्त्वज्ञान को पूर्णतया समझ सकते हैं और आध्यात्मिक जगत में

प्रवेश करने के पात्र हो जाते हैं। जैसा कि *भगवद्गीता* में बताया गया है, यदि अनेक जन्मों के बाद अन्ततः हमें कृष्ण की शरण में जाना ही है, तो फिर क्यों न तुरन्त ही ऐसा करें? इतने सारे जन्मों के लिए प्रतीक्षा क्यों की जाये? यदि सिद्धि का अन्त शरणागति है, तो सिद्धि को क्यों न तुरन्त ग्रहण किया जाये? निस्संदेह, इसका उत्तर यही है कि सामान्यतया लोगों को सन्देह बना रहता है। कृष्णभावनामृत को एक क्षण में प्राप्त किया जा सकता है अथवा इसे हजारों जन्म-जन्मान्तर के बाद भी प्राप्त नहीं किया जा सकता। यदि हम चाहें, तो हम कृष्ण की शरण में जाकर तुरन्त महात्मा बन सकते हैं, किन्तु हमारे मन में यह संदिग्धावस्था बनी रहती है कि कृष्ण वास्तव में परमेश्वर हैं या नहीं; अतः हमें शास्त्रों के अध्ययन से इन सन्देहों को दूर करने में समय लग जाता है। प्रामाणिक गुरु के निर्देशन में *भगवद्गीता* का अध्ययन करके हम इन सन्देहों को दूर कर सकते हैं और ठोस प्रगति कर सकते हैं।

ज्ञान की अग्नि ही सारे सन्देहों तथा सकाम कर्मों को जला कर राख कर देती है। सत्यदर्शी से सत्य की जिज्ञासा करने के फलस्वरूप जो फल प्राप्त होता है, उसकी सूचना श्रीकृष्ण इस प्रकार देते हैं :

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषाणि द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि॥
अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि॥

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥

"ऐसे ज्ञान के इस प्रकार प्राप्त हो जाने पर तुम यह जान सकोगे कि सब जीव मेरे अंश हैं और वे मुझमें ही स्थित हैं और मेरे हैं। यदि तुम समस्त पापियों में सर्वाधिक पापी भी माने जाते हो, तो भी दिव्य ज्ञानरूपी नाव में स्थित होकर तुम इस दुःख के सागर को तर सकोगे। जिस प्रकार प्रज्ज्वलित अग्नि लकड़ी को भस्म कर के राख कर देती है, उसी प्रकार हे अर्जुन, ज्ञानरूपी अग्नि भौतिक कर्मों के सम्पूर्ण फलों को जला कर भस्म कर डालती है।" (*भगवद्गीता* ४.३५-३७)

ज्ञान की अग्नि आध्यात्मिक गुरु द्वारा प्रज्ज्वलित की जाती है और जब यह प्रज्ज्वलित हो उठती है, तो हमारे कर्मों के सभी फल भस्म हो जाते हैं। हमारे कर्मों के फल ही हमारे बन्धन के कारण हैं। कर्म अच्छे भी होते हैं और बुरे भी। इस श्लोक में *सर्वकर्माणि* शब्द से दोनों का बोध होता है। जो इस भवबन्धन से छुटकारा पाना चाहता है, उसके लिए अच्छे तथा बुरे दोनों प्रकार के कर्मों के फल बाधक हैं। इस भौतिक जगत में यदि हम सतोगुण से युक्त होते हैं, तो हम अच्छे कर्म करते हैं। यदि हम रजो तथा तमो गुणों से युक्त होते हैं, तो हम बुरे कर्म करते हैं। किन्तु जो कृष्णभावनामय होने जा रहे हों, उनके लिए अच्छे या बुरे कर्म करने की आवश्यकता नहीं है। अच्छे कर्म से हम किसी राजसी या धनी परिवार में जन्म पा सकते हैं और बुरे कर्म से हमें पशु जगत में या निम्न मानव कुल में जन्म मिल सकता है,

किन्तु कुछ भी हो, जन्म का अर्थ ही बन्धन है और जो कोई कृष्णभावनामृत के लिए प्रयत्नशील रहता है, वह तो आवागमन के बन्धन से मुक्ति हेतु प्रयत्नशील होता है। यदि किसी को अपने भौतिक क्लेशों से छुटकारा न मिल पाये, तो धनी या राजसी कुल में जन्म लेने से क्या लाभ? चाहे हम अच्छे कर्म के फलों को भोगें या बुरे कर्म के, हमें भौतिक शरीर तो धारण करना ही होता है, जिससे भौतिक क्लेश सहने होते हैं।

कृष्ण की दिव्य सेवा में संलग्न होने पर हम वास्तव में जन्म तथा मृत्यु के चक्र से छूट जाते हैं। किन्तु मन में ज्ञान की अग्नि प्रज्ज्वलित न होने के कारण हम इस भौतिक अस्तित्व को सुख मान बैठते हैं। एक कुत्ता या एक सूअर यह नहीं समझ पाता कि वह कितना कष्टप्रद जीवन बिता रहा है। वस्तुतः वह सोचता है कि मैं तो जीवन का आनन्द उठा रहा हूँ। यह माया का आवरणात्मक या मोहमय प्रभाव कहलाता है। *बौअरी* में अनेक शराबी सड़क पर पड़े रहते हैं और वे सोचते हैं, "हम जीवन का आनन्द उठा रहे हैं।" किन्तु उनके निकट से गुजरने वाले सोचते हैं, "अरे, ये कितने दुःखी हैं।" यही माया का कार्य करने का तरीका है। भले ही हम कष्टप्रद अवस्था में रह रहे हों, किन्तु हम इसे अत्यन्त सुखमय समझ कर स्वीकार कर लेते हैं। इसे अज्ञान कहते हैं। किन्तु जब ज्ञानोदय होता है तो मनुष्य सोचता है, "ओह! मैं सुखी नहीं हूँ। मुझे स्वतन्त्रता चाहिए, किन्तु स्वतन्त्रता है नहीं। मैं मरना नहीं चाहता, किन्तु मृत्यु तो होती है। मैं वृद्ध नहीं होना चाहता किन्तु वृद्धावस्था आती है। मैं रोग नहीं चाहता,

फिर भी रोग आते हैं।" मानवीय अस्तित्व की ये मुख्य समस्याएँ हैं, किन्तु हम इनकी अनदेखी करके छोटी-छोटी समस्याओं को हल करने में उलझे रहते हैं। हम भूल जाते हैं कि हमें इस भौतिक संसार में अधिक काल तक नहीं रहना है; फिर भी हम आर्थिक विकास को सर्वाधिक महत्त्व देते हैं। आर्थिक विकास हो अथवा न हो, साठ वर्ष या एक सौ वर्ष की आयु के बाद हमारे जीवन का अन्त हो जाएगा। भले ही हम लाखों डालर संचित क्यों न कर लें, इस शरीर को त्यागने के साथ ही यह सारा धन भी पीछे छोड़ जाना पड़ेगा। हमें यह जान लेना चाहिए कि इस भौतिक जगत में हम जो कुछ भी कर रहे हैं, वह भौतिक प्रकृति के प्रभाव से विनष्ट होता जा रहा है।

हमें स्वतन्त्रता चाहिए; हम विश्व-भर में तथा ब्रह्माण्ड-भर में विचरण करना चाहते हैं। असल में, आत्मा होने के कारण यह हमारा अधिकार है। *भगवद्गीता* में आत्मा को *सर्वगतः* कहा गया है, जिसका अर्थ यह है कि वह जहाँ जाना चाहे वहाँ जाने की क्षमता रखता है। सिद्ध-लोकों में सिद्ध जीव या योगी रहते हैं, जो बिना किसी वायुयान या अन्य यन्त्रों की सहायता के अपनी इच्छानुसार विचरण कर सकते हैं। एक बार भौतिक बन्धन से छुटकारा पा लेने पर हम अत्यन्त शक्तिशाली बन सकते हैं। वास्तव में हमें इसका कोई भान नहीं है कि आध्यात्मिक स्फुलिंग के रूप में हम कितने शक्तिशाली हैं। उल्टे, हम इस पृथ्वी पर रहते हुए और थोड़े से अन्तरिक्ष-यान उड़ा कर अत्यन्त संतुष्ट हैं और सोचते हैं कि हम भौतिक विज्ञान में बहुत आगे बढ़ चुके

हैं। हम अन्तरिक्ष-यानों को निर्मित करने में करोड़ों डालर व्यय करते हैं, किन्तु यह नहीं जानते कि हम बिना कुछ व्यय किये, जहाँ चाहें वहाँ जाने की क्षमता रखते हैं।

बात यह है कि हमें ज्ञान के द्वारा अपनी आध्यात्मिक शक्तियों का विकास करना चाहिए। ज्ञान तो पहले से उपलब्ध है; हमें मात्र उसे ग्रहण करना है। प्राचीनकाल में लोग ज्ञान-प्राप्ति के लिए न जाने कितनी तपस्याएँ करते थे, किन्तु इस युग में यह विधि सम्भव नहीं है, क्योंकि हमारे जीवनकाल अति अल्प हैं और हम सदा ही विक्षुब्ध रहते हैं। इस युग के लिए कृष्णभावनामृत की विधि अर्थात् हरे कृष्ण का जप करना सर्वोत्तम है, जिसका प्रवर्तन श्री चैतन्य महाप्रभु ने किया था। यदि इस विधि के द्वारा हम ज्ञान की अग्नि को प्रज्वलित कर सकें, तो हमारे कर्मों के सभी फल भस्मसात् हो जाएँगे और हम शुद्ध हो जाएँगे।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥

"दिव्य ज्ञान के समान इस संसार में कुछ भी उदात्त और पवित्र नहीं है। ऐसा ज्ञान सम्पूर्ण योग का परिपक्व फल है। और जिस मनुष्य ने इसे प्राप्त कर लिया है, वह यथासमय अपने आत्मस्वरूप का आस्वादन करता है।" (*भगवद्गीता* ४.३८)

यह उदात्त तथा शुद्ध ज्ञान क्या है? यह इस बात का ज्ञान है कि हम ईश्वर के अंश हैं और हमें अपनी चेतना को परम चेतना से जोड़ना है। यह इस भौतिक संसार का विशुद्धतम ज्ञान है। यहाँ

की प्रत्येक वस्तु भौतिक प्रकृति की वृत्तियों—सत्त्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुणों से दूषित है। सत्त्व भी एक प्रकार का दूषण है। सत्त्वगुण में मनुष्य को अपनी स्थिति तथा आध्यात्मिक विषयों आदि का बोध तो हो जाता है, किन्तु उसका दोष इस प्रकार सोचने में है कि, "अब मैं सब कुछ समझ गया हूँ। अब मैं बिल्कुल ठीक हूँ।" वह यहाँ पर रहना चाहता है। दूसरे शब्दों में, सत्त्वगुण को प्राप्त मनुष्य उत्तम कोटि का बन्दी बन जाता है और बन्दीगृह में ही प्रसन्नता का अनुभव करके वहीं रहना चाहता है। तो फिर जो रजोगुणी तथा तमोगुणी हैं, उनके विषय में तो कहना ही क्या? असल बात यह है कि हमें सत्त्वगुण से भी परे जाना होता है। दिव्य स्थिति का शुभारम्भ *अहं ब्रह्मास्मि* के बोध से होता है—"मैं यह पदार्थ नहीं हूँ अपितु आत्मा हूँ।" किन्तु यह स्थिति भी अस्थिर है। इससे भी अधिक की आवश्यकता होती है।

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥

"जो इस तरह अध्यात्म में स्थित है, उसे तुरन्त परम ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। उसे किसी वस्तु के लिए न तो शोक होता है, न कामना होती है; वह प्रत्येक प्राणी पर समभाव रखता है। इस अवस्था में वह मेरी शुद्ध भक्ति प्राप्त करता है।" (*भगवद्गीता* १८.५४)

ब्रह्मभूत अवस्था में मनुष्य अपनी पहचान पदार्थ से नहीं करता। मनुष्य का ब्रह्मभूत पद में स्थित होने का पहला लक्षण

यह है कि वह प्रसन्न रहता है (*प्रसन्नात्मा*)। उस पद पर न तो शोक है न आकांक्षा। किन्तु यदि हम इस अवस्था तक पहुँच भी लें और कृष्ण की प्रेममयी सेवा न करें, तो इस बात की सम्भावना है कि हम पुनः भव-भँवर में आ गिरें। हम आकाश में बहुत ऊँचाई तक उठ सकते हैं, किन्तु यदि वहाँ कोई आश्रय न हो, यदि हम किसी ग्रह पर न उतर पाएँ, तो हम पुनः नीचे गिर पड़ेंगे। ब्रह्मभूत पद के कोरे ज्ञान से काम चलने वाला नहीं, जब तक हम कृष्ण के चरणारविन्द की शरण में न चले जाएँ। जब हम कृष्ण की सेवा में लग जाते हैं, तब इस भौतिक जगत में फिर से आ गिरने की कोई सम्भावना नहीं रह जाती।

हमारा स्वभाव ऐसा है कि हम कुछ कार्य चाहते हैं। बालक शरारत कर सकता है, किन्तु जब तक उसे किसी काम में नहीं लगाया जाता, वह शरारत करने से रुक नहीं सकता। जब उसे कुछ खिलौने दे दिये जाते हैं, तो उसका ध्यान दूसरी ओर लग जाता है और उसकी शरारतें रुक जाती हैं। हम शरारती बालकों की तरह हैं, अतः हमारे पास आध्यात्मिक कार्य होना चाहिए। हम आत्मा हैं, केवल इतना समझने से काम चलने वाला नहीं। अपने को आत्मा समझ लेने पर आध्यात्मिक कार्य के द्वारा आत्मा को पुष्ट करना चाहिए। भारत में यह कोई असामान्य बात नहीं है कि कोई व्यक्ति अपने सारे भौतिक कार्य छोड़कर, अपना घर तथा परिवार त्याग कर, संन्यास ग्रहण कर लेता है और कुछ काल तक ध्यान करने के पश्चात् या तो अस्पताल खोल कर परोपकार प्रारम्भ कर देता है अथवा राजनीति में भाग लेने लगता

है। अस्पताल-निर्माण कराने का कार्य तो सरकार द्वारा किया जाता है; संन्यासी का कर्त्तव्य तो यह है कि वह ऐसे अस्पताल खोले, जहाँ लोग सचमुच ही अपने-अपने भौतिक शरीरों से छुटकारा पा सकें, न कि उनकी मरम्मत करवाएँ। किन्तु वास्तविक आध्यात्मिक कार्य क्या है, उसका ज्ञान न होने से हम भौतिक कार्यों में लग जाते हैं।

कृष्णभावनामृत में पूर्णता प्राप्त करने पर यथा समय ज्ञान तथा पाण्डित्य आ जाता है। प्रारम्भ में भले ही कुछ हतोत्साहित होना पड़े, किन्तु *कालेन* शब्द इसका सूचक है कि यदि हम उसमें जुटे रहकर मात्र परिश्रम करें, तो सफल हो जाएंगे। जैसा कि निम्नलिखित श्लोक में कहा गया है, हमारे अन्दर श्रद्धा होनी चाहिए :

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥

"जो पुरुष श्रद्धावान है, जितेन्द्रिय है और दिव्य ज्ञान में मग्न है, वह तत्काल परम आध्यात्मिक शान्ति को प्राप्त कर लेता है।" (*भगवद्गीता* ४.३९)

जो लोग संशयशील हैं और जो श्रद्धा नहीं रखते हैं, उनके लिए कृष्णभावनामय होना अत्यन्त दुष्कर है। हमारे नित्यप्रति के कार्यों में भी कुछ-न-कुछ श्रद्धा चाहिए। जब हम कोई टिकट खरीदते हैं, तो हमें विश्वास रहता है कि एयरलाइन कम्पनी हमें गन्तव्य स्थान तक ले जाएगी। बिना विश्वास के इस भौतिक संसार में रह पाना भी असम्भव है, आध्यात्मिक उन्नति करना तो

दूर रहा। तो हम किस पर श्रद्धा रखें? उत्तर होगा : अधिकारी पर। हमें किसी अनधिकृत कम्पनी से टिकट नहीं लेना चाहिए। हमें *भगवद्गीता* के वक्ता कृष्ण पर विश्वास रखना होगा। हम किस प्रकार श्रद्धावान बनें? इसके लिए इन्द्रियों पर संयम रखने की आवश्यकता है। हम इस भौतिक संसार में इसीलिए आये हैं, क्योंकि हम अपनी इन्द्रियों की तृप्ति करना चाहते हैं। यदि किसी वैद्य पर हमारा विश्वास है कि वह हमें ठीक कर सकता है और यदि वह हमसे कहता है कि अमुक-अमुक चीजें नहीं खानी है, किन्तु फिर भी यदि हम उन्हें खा लेते हैं, तो यह कैसा विश्वास हुआ? यदि हमें अपने वैद्य पर विश्वास है, तो ठीक होने के लिए हम उसके नुस्खे का पालन करेंगे। असल बात है, हिदायतों का विश्वासपूर्वक पालन करना। तब बुद्धि (विवेक) आयेगी। जब विवेक की अवस्था प्राप्त हो जाती है, तो परम शान्ति (*परां शान्तिम्*) मिलती है। कृष्ण निर्देश करते हैं कि जब मनुष्य अपनी इन्द्रियों को संयमित कर लेता है, तो शीघ्र ही (*अचिरेण*) विश्वास उत्पन्न हो जाता है। कृष्ण के प्रति ऐसी श्रद्धा उत्पन्न हो जाने पर मनुष्य अपने को संसार का सर्वाधिक सुखी प्राणी मानने लग जाता है। हम सबकी यही स्थिति है। हमें इस मूलमंत्र को स्वीकार करके श्रद्धापूर्वक इस का पालन करना चाहिए। यह श्रद्धा परम सत्ता (अधिकारी) में होनी चाहिए, किसी अधम आदमी पर नहीं। हमें ऐसे आध्यात्मिक गुरु की तलाश करनी चाहिए, जिन पर हम श्रद्धा रख सकें। इसके लिए सर्वाधिक अधिकृत व्यक्ति हैं श्रीकृष्ण, किन्तु यदि कोई कृष्णभावनाभावित

हो तो वह भी स्वीकार्य है, क्योंकि पूर्णतया कृष्णभावनाभावित व्यक्ति कृष्ण का प्रामाणिक प्रतिनिधि होता है। ऐसे प्रतिनिधि के शब्दों का आस्वादन करने पर हमें उसी प्रकार सन्तोष मिलेगा, जिस प्रकार पूरा भोजन करने पर मिलता है।

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥

"परन्तु शास्त्रों में शंका रखने वाले, अज्ञानी और अश्रद्धालु मनुष्यों को भगवद्चेतना की प्राप्ति नहीं होती। संशयात्मा के लिए तो इस लोक में अथवा परलोक में भी कोई सुख नहीं है।" (*भगवद्गीता* ४.४०)

ज्ञान के इस पथ को ग्रहण करने में जो संकोच करते हैं, उनके लिए कोई अवसर नहीं रह जाता। संकोच अज्ञान के कारण होता है (*अज्ञश्च*)। कृष्णभावनामृत स्वीकार करने में जो संकोच करता है, वह इस भौतिक संसार में भी सुखी नहीं रहता, तो फिर अगले जन्म की तो बात ही क्या? यह भौतिक जगत तो पहले से ही दु:खमय है, किन्तु यदि मनुष्य में श्रद्धा नहीं है, तो यह और भी अधिक दु:खमय बन जाता है। इस प्रकार श्रद्धाविहीन की अवस्था अत्यन्त अनिश्चित बनी रहती है। हम किसी बैंक में हजारों रुपये जमा करा देते हैं क्योंकि हमें यह विश्वास रहता है कि वह बैंक ठप्प नहीं होगा। यदि हम बैंकों तथा एयरलाइनों पर विश्वास रख सकते हैं, तो हम उन श्रीकृष्ण में विश्वास क्यों न करें, जिन्हें अनेक वैदिक ग्रंथों तथा अनेक ऋषियों ने परम सत्ता के रूप में स्वीकार किया है। हमें शंकराचार्य, रामानुजाचार्य तथा

चैतन्य महाप्रभु जैसे महापुरुषों के पदचिह्नों पर चलना है। यदि हम अपने कर्त्तव्यों का पालन करते हुए और उनके पदचिह्नों पर चलते हुए अपनी श्रद्धा बनाये रखें, तो सफलता निश्चित है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, हमें ऐसे व्यक्ति की खोज करनी होगी जिसे परम सत्य का दर्शन हो चुका हो और हमें उसी की शरण में जाकर सेवा करनी चाहिए। यदि ऐसा किया जाये, तो आध्यात्मिक मुक्ति में कोई सन्देह नहीं रह जाता। प्रत्येक व्यक्ति ईश्वर के दर्शन के लिए उत्सुक है, किन्तु हमारे जीवन की वर्तमान अवस्था में हम बद्ध एवं मोहग्रस्त हैं। हमें वस्तुओं की वास्तविकता का कोई भान नहीं है। यद्यपि हम ब्रह्म हैं और स्वभाव से आनन्दमय हैं, किन्तु किसी कारण हम अपनी वैधानिक स्थिति से नीचे गिर चुके हैं। हमारी प्रकृति *सत्-चित्-आनन्द* अर्थात् शाश्वतता, ज्ञान तथा आनन्द की है, फिर भी इस शरीर की मृत्यु निश्चित है और जब तक इसका अस्तित्व है, यह अज्ञान तथा क्लेशों से भरा रहता है। इन्द्रियाँ अपूर्ण हैं, अत: इनके द्वारा पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति सम्भव नहीं है। अत: जैसा कि *भगवद्गीता* का कथन है, यदि हम दिव्य ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं, तो हमें ऐसे व्यक्ति के पास जाना चाहिए, जिसने सचमुच परम सत्य के दर्शन किये हों (*तद्विद्धि प्रणिपातेन*)। परम्परानुसार ब्राह्मणों को गुरु होना चाहिए, किन्तु इस कलियुग में योग्य ब्राह्मण खोज पाना बहुत कठिन है। फलस्वरूप योग्य गुरु मिल पाना दुष्कर है। इसीलिए चैतन्य महाप्रभु ने संस्तुति की है—*किबा विप्र, किबा न्यासी, शूद्र केने नय / येइ कृष्णतत्त्ववेत्ता, सेइ*

'गुरु' हय—"कोई ब्राह्मण है कि शूद्र अथवा संन्यासी या गृहस्थ, यह महत्त्वपूर्ण नहीं है। यदि वह कृष्णतत्त्वज्ञान को जानता है, तो वह प्रामाणिक गुरु है।"

भगवद्गीता कृष्णविषयक विज्ञान है और यदि हम अपने तर्क, बुद्धि तथा दार्शनिक ज्ञान से संवीक्षण करते हुए इसका अध्ययन करें, तो यह विज्ञान हमारी समझ में आ जाएगा। ऐसा नहीं है कि हम आँख मूँद कर शरण में चले जाँय। आध्यात्मिक गुरु स्वरूपसिद्ध हो सकते हैं और परम सत्य में स्थित हो सकते हैं, फिर भी सारी आध्यात्मिक बातों को समझने के लिए हमें उनसे प्रश्न करने होंगे। यदि कोई कृष्ण-विज्ञान सम्बन्धी प्रश्नों का सही-सही उत्तर दे पाता है, तो वह आध्यात्मिक गुरु है, भले ही वह कहीं जन्मा हो और कोई भी हो—चाहे ब्राह्मण, शूद्र, अमरीकी, भारतीय, कोई भी हो। जब हम डॉक्टर के पास जाते हैं, तब हम यह नहीं पूछते कि वह हिन्दू है या ईसाई अथवा ब्राह्मण। उसके पास चिकित्सक की योग्यता होती है और हम मात्र उसकी शरण में जाते हैं और कहते हैं, "डॉक्टर! मेरा इलाज करें। मैं बीमार हूँ।"

कृष्ण आध्यात्मिक विज्ञान के चरम लक्ष्य हैं। दरअसल, जब हम कृष्ण की बात कहते हैं, तो हमारा मन्तव्य ईश्वर होता है। समस्त विश्व तथा ब्रह्माण्ड में ईश्वर के अनेक नाम हैं, किन्तु वैदिक ज्ञान के अनुसार कृष्ण सर्वश्रेष्ठ नाम है। इसीलिए चैतन्य महाप्रभु ने इस युग में आत्मबोध के निमित्त हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे / हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे के

जप-कीर्तन की संस्तुति परम श्रेष्ठ विधि के रूप में की है। उन्होंने जाति या सामाजिक अवस्था का कोई भेदभाव नहीं बरता। वास्तव में, उनके अधिकांश उन्नत शिष्य समाज में पतित माने जाते थे। उन्होंने हरिदास ठाकुर के मुसलमान होने पर भी उन्हें *नामाचार्य* अर्थात् पवित्र नामों के आचार्य के रूप में नियुक्त किया। इसी प्रकार उनके दो प्रधान शिष्य रूप गोस्वामी तथा सनातन गोस्वामी, पहले साकर मल्लिक तथा दबिर खास के नामों से जाने जाते थे और मुसलमानी सरकार में नौकर थे। उन दिनों हिन्दू इतने कठोर थे कि यदि कोई ब्राह्मण किसी अहिन्दू की सेवा स्वीकार कर ले, तो उसे हिन्दू-समाज से तुरंत बहिष्कृत कर दिया जाता था। इतने पर भी चैतन्य महाप्रभु ने रूप गोस्वामी तथा सनातन गोस्वामी को कृष्ण-तत्त्वज्ञान का मुख्य अधिकारी बनाया। अतः किसी के लिए कोई अवरोध नहीं है; यदि कोई कृष्ण-तत्त्व को जानता हो, तो वह आध्यात्मिक गुरु बन सकता है। यही एकमात्र योग्यता है और इस विज्ञान का सार *भगवद्गीता* में दिया हुआ है। इस समय संसार में इस महान् विज्ञान के प्रसार हेतु हजारों आध्यात्मिक गुरुओं की आवश्यकता है।

हमें यह समझना होगा कि *भगवद्गीता* में जब श्रीकृष्ण अर्जुन से बोलते हैं, तो वे अकेले अर्जुन से नहीं, अपितु समग्र मानव-जाति से बोल रहे हैं। श्रीकृष्ण स्वयं घोषणा करते हैं कि कृष्ण-तत्त्वज्ञान को जान लेने मात्र से अर्जुन मोहग्रस्त नहीं होगा (*यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहम्*)। यदि हमारे पास अच्छा जहाज हो, तो हम अटलांटिक महासागर को आसानी से पार कर सकते हैं। इस

समय हम अज्ञान के सागर के बीच में हैं, क्योंकि यह भौतिक संसार को अज्ञान के महान् सागर के तुल्य माना गया है। अत: भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु ने श्रीकृष्ण से इस प्रकार प्रार्थना की :

अयि नन्दतनुज किङ्करं पतितं मां विषमे भवाम्बुधौ।
कृपया तव पादपङ्कजस्थितधूलिसदृशं विचिन्तय॥

"हे नन्दनन्दन! मैं आपका सनातन सेवक हूँ; फिर भी न जाने किस प्रकार से जन्म-मृत्यु के सागर में गिर गया हूँ। कृपया मृत्यु के इस सागर से मुझे निकालें और अपने चरणकमलों की धूलि-कणिका के रूप में मुझे स्थान दें।" (शिक्षाष्टकम् ५)

यदि हमारे पास पूर्ण ज्ञानरूपी नौका हो, तो हमें कोई डर नहीं रहता, क्योंकि हम सरलता से भवसागर को पार कर सकते हैं। यदि कृष्णतत्त्वज्ञानरूपी नौका मिल जाये, तो पापी से पापी मनुष्य भी सागर को सरलता से पार कर सकता है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है (*भगवद्गीता* ४.३६), विगत जीवन में हम क्या थे, यह महत्त्वपूर्ण नहीं है। हो सकता है अज्ञानवश हमने अनेक गर्हित कर्म किये हों। निस्सन्देह, कोई भी यह नहीं कह सकता कि वह पापकर्म से सर्वथा मुक्त है। किन्तु *भगवद्गीता* के अनुसार इसका महत्त्व नहीं है। कृष्ण के तत्त्वज्ञान को जान लेने मात्र से ही मनुष्य मुक्त हो जाता है।

इसलिए यह नितान्त आवश्यक है कि हम ज्ञान की खोज करें और ज्ञान की पूर्णता इसमें है कि हम कृष्ण को समझें। आजकल अनेक वाद प्रचलित हैं और प्रत्येक व्यक्ति दावा करता है कि वह जीने की सर्वश्रेष्ठ कला से परिचित है। इसलिए इतने

सारे 'वाद' चल पड़े हैं। इन सब वादों में से विश्वभर में साम्यवाद अत्यन्त प्रमुख बन चुका है। किन्तु *श्रीमद्भागवत* में हमें आध्यात्मिक साम्यवाद के बीज प्राप्त होते हैं। वहाँ नारद मुनि बताते हैं कि इस भौतिक ब्रह्माण्ड में—चाहे कोई अधोलोक में हो, मध्यलोक में हो अथवा उच्चलोक में हो या कि बाह्य अन्तरिक्ष में हो—समस्त प्राकृतिक संसाधन परमेश्वर द्वारा प्रकट किये जाते हैं। हमें यह समझना चाहिए कि इस संसार में जो कुछ भी अस्तित्व में है, उसे किसी मनुष्य ने नहीं, अपितु भगवान् ने सृजित किया है। कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति ऐसा मानने से इनकार नहीं कर सकता। *श्री ईशोपनिषद्* का आदेश है :

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद् धनम्॥

"इस ब्रह्माण्ड में स्थावर अथवा जंगम जो कुछ भी है, वह भगवान् के नियंत्रण में है और उन्हीं की सम्पत्ति है। अतएव मनुष्य को अपने लिए नियत की गई आवश्यक वस्तुओं को ही ग्रहण करना चाहिए और यह जानकर कि अन्य वस्तुएँ किसकी हैं, उन्हें भोगने की इच्छा नहीं करनी चाहिए।" (*श्री ईशोपनिषद्* मंत्र १)

फलस्वरूप, सर्वोच्च देवता ब्रह्मा से लेकर छोटी से छोटी चींटी तक, समस्त जीवात्माओं को प्राकृतिक साधनों का उपयोग करने का अधिकार है। नारद मुनि बताते हैं कि हम इन साधनों का उपयोग अपनी आवश्यकता के अनुसार कर सकते हैं, किन्तु यदि हम आवश्यकता से अधिक ग्रहण करते हैं, तो हम चोर हैं।

दुर्भाग्यवश, प्रत्येक मनुष्य विजयी होने और प्रभुत्व जमाने का प्रयास कर रहा है। सारे देशों में होड़ मची है कि चन्द्रलोक में उनका ध्वज फहराए और उस पर उनका अधिकार हो। यूरोपियन जब अमेरिका में आये, तो उन्होंने अपना झंडा गाड़कर इसे अपना राष्ट्र बना लिया। इस तरह झंडा गाड़ना या फहराना, सब कुछ अज्ञानता के कारण होता है। हम यह नहीं सोचते कि आखिर हम यह झंडा कहाँ फहरा रहे हैं। यह हमारी नहीं, यह तो ईश्वर की सम्पत्ति है। इसे जानना ज्ञान है और उसे अपनी सम्पत्ति समझना अज्ञान है। हमें उपयोग करने का अधिकार है, किन्तु उस पर दावा करने या उसे जमा करने का अधिकार नहीं है।

यदि हम एक बोरा अनाज सड़क पर बिखेर दें, तो कबूतर आकर उसमें से चार-पाँच दाने चुग कर चले जाएँगे। वे

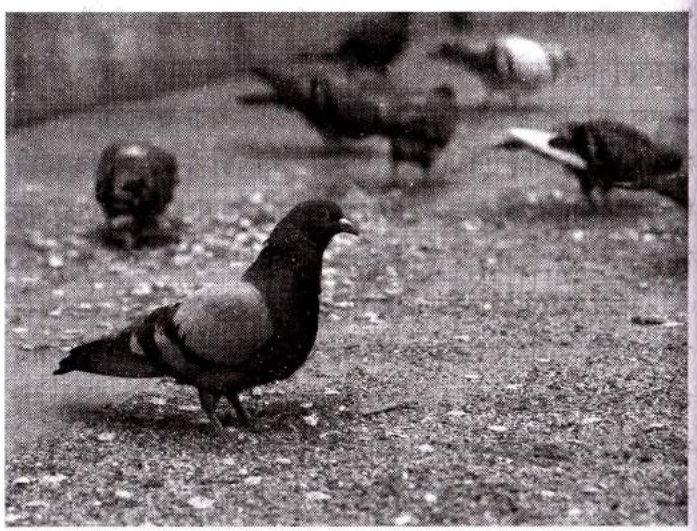

आवश्यकता से अधिक नहीं खाएंगे और खा लेने के बाद अपनी राह चल देंगे। किन्तु यदि हम सड़क के किनारे फुटपाथ पर आटे के अनेक बोरे रखकर लोगों से कहें कि आओ और ले जाओ, तो एक व्यक्ति दस-बीस बोरे ले जाएगा और दूसरा बीस-तीस बोरे ले जाएगा। किन्तु जिस व्यक्ति के पास इतने बोरे ले जाने का साधन नहीं हैं, वह एक या दो बोरों से अधिक नहीं ले जा सकता। इस तरह वितरण असमान होगा। इस को सभ्यता की प्रगति कहा जाता है; हममें कबूतरों, कुत्तों तथा बिल्लियों के ज्ञान का भी अभाव है। प्रत्येक वस्तु परमेश्वर की है और हम उतना ही ले सकते हैं, जितने की हमें आवश्यकता है, उससे अधिक कुछ भी नहीं। यही ज्ञान है। भगवान् ने संसार की ऐसी व्यवस्था कर रखी है कि इसमें किसी भी वस्तु की कमी नहीं है। प्रत्येक वस्तु पर्याप्त है, बशर्ते कि हम उसको वितरित करना जानते हों। किन्तु आज ऐसी दयनीय स्थिति है कि कोई तो आवश्यकता से अधिक लिये जा रहा है, और कोई भूखों मर रहा है। फलस्वरूप, भूखा जनसमूह विद्रोह करता है और पूछता है, "हम ही क्यों भूखों मरें?" किन्तु उनके तौर-तरीके अपूर्ण हैं। आध्यात्मिक-साम्यवाद की पूर्णता इस ज्ञान में निहित है कि प्रत्येक वस्तु ईश्वर की है। कृष्ण-तत्त्व को जान लेने पर हम झूठे स्वामित्व के अज्ञान को सरलता से पार कर सकते हैं।

वस्तुत: हम अपने अज्ञान के कारण कष्ट भोग रहे हैं। न्यायालय में अज्ञान के लिए कोई छूट नहीं है। यदि हम न्यायाधीश से कहें कि हम कानून से परिचित नहीं हैं, तो भी हम

दण्डित होने से बच नहीं सकते। यदि किसी ने अवैधानिक रीति से प्रचुर सम्पत्ति एकत्रित कर ली है और वह नियम के उल्लंघन के बारे में अज्ञानता प्रकट करता है, तो भी वह दण्डित होगा। सारा संसार इस ज्ञान से विहीन है और इसलिए कृष्ण-तत्त्व विज्ञान के हजारों शिक्षकों की आवश्यकता है। सम्प्रति इस ज्ञान की अत्यधिक आवश्यकता है। हमें यह नहीं सोचना चाहिए कि चूँकि कृष्ण भारत में प्रकट हुए, फलस्वरूप *भगवद्गीता* का ज्ञान सांप्रदायिक है या कि कृष्ण सांप्रदायिक ईश्वर हैं। वास्तव में, श्रीकृष्ण *भगवद्गीता* के चौदहवें अध्याय (१४.४) में स्वयं घोषित करते हैं कि वे समस्त प्राणियों के पिता हैं, जैसा कि पहले भी इंगित किया गया है।

आत्मा होने के कारण हम परमात्मा के अंश हैं; किन्तु इस भौतिक जगत का उपभोग करने की इच्छा के कारण हमें इस भौतिक संसार में रखा गया है। फिर भी, हम चाहे जिस योनि में रहें, कृष्ण हमारे पिता हैं। इस तरह *भगवद्गीता* किसी विशेष दल या राष्ट्र के निमित्त न होकर संसार के समस्त जीवों, यहाँ तक कि पशुओं के लिए भी है। चूँकि परमात्मा के पुत्र अज्ञानतावश अब चोरी करने लगे हैं, अतः जो लोग *भगवद्गीता* के जानकार हैं, उनका यह धर्म है कि वे इस परम ज्ञान को समस्त जीवों में फैलाएँ। इस प्रकार लोग अपनी वास्तविक आध्यात्मिक प्रकृति तथा परमेश्वर के साथ अपने सम्बन्धों का अनुभव कर सकेंगे।

८

कृष्ण के ज्ञान सहित होने वाला कर्म

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते॥

"मुझ पर किसी कर्म का प्रभाव नहीं होता, न ही मुझे कर्मफल की कामना है। मेरे सम्बन्ध में इस सत्य को जानने वाला भी सकाम कर्मफल में लिप्त नहीं होता।" (*भगवद्गीता* ४.१४)

सारा संसार कर्म से बद्ध है। हम सभी सूक्ष्म जीवियों अथवा कीटाणुओं से अस्तित्व के बारे में ज्ञात हैं, जो एक मिलीमीटर से भी लघु आकार वाले स्थान में लाखों में रहते हैं। *ब्रह्मसंहिता* में कहा गया है कि इन्द्रगोप कहलाने वाले सूक्ष्म जीव से लेकर स्वर्ग के राजा इन्द्र तक सभी प्राणी कर्म तथा उसके फल से बँधे हैं। हमें अपने कर्मों के फलों को भोगना पड़ता है, चाहे ये अच्छे हों या बुरे। जब तक हमें इन कर्मों के फलों को भोगना पड़ता है, तब तक हम इन भौतिक शरीरों से बँधे रहते हैं।

प्रकृति की व्यवस्था द्वारा जीवात्मा को यह शरीर कष्ट सहने या सुख भोगने के लिए दिया गया है। भिन्न-भिन्न कार्यों के लिए भिन्न भिन्न प्रकार के शरीर प्राप्त होते हैं। बाघ का शरीर मारने तथा कच्चा मांस खाने के लिए बना होता है। इसी तरह सूअर का शरीर इस प्रकार बनाया गया है कि वे मल खा सकें। और मनुष्य के दाँत इस प्रकार बनाये गए हैं कि वह शाक तथा फल खाए। ये सारे शरीर जीव द्वारा पूर्वजन्म में किये गये कर्मों के आधार पर प्राप्त होते हैं। हमारा भावी शरीर हमारे द्वारा इस जीवन में किये जा रहे कर्मों के अनुसार बनेगा, किन्तु उपर्युक्त श्लोक में श्रीकृष्ण कहते हैं कि जो व्यक्ति उनके कार्यकलापों की दिव्य प्रकृति को जानता है, वह कर्मों के फलों से मुक्त हो जाता है। हमारे कर्म ऐसे होने चाहिए जिससे कि हम पुन: इस भौतिक संसार में न उलझें। यह तभी सम्भव है जब हम कृष्ण के विषय में अध्ययन करके, उनके कार्यकलापों की दिव्य प्रकृति को समझते हुए और इस भौतिक जगत में तथा आध्यात्मिक जगत में वे कैसा आचरण करते हैं ऐसा जानते हुए, कृष्णभावनामय बनें।

जब कृष्ण इस पृथ्वी पर अवतरित होते हैं, तो वे हम जैसे नहीं होते; वे पूर्णरूपेण दिव्य होते हैं। हम सभी अपने-अपने कर्मों के फल की कामना करते हैं, किन्तु कृष्ण को किसी कर्मफल की कामना नहीं होती और न ही उनके कर्मों का कोई फल होता है। उन्हें सकाम कर्म की कोई अभिलाषा नहीं होती (*न मे कर्मफले स्पृहा*)। जब हम कोई व्यापार करते हैं, तो हम

लाभ की आशा करते हैं और उस लाभ से हम उन वस्तुओं को खरीदना चाहते हैं, जिनसे हमारा जीवन आनन्दमय बन सके। जब भी बद्ध जीव कोई कार्य करता है, तो उसके पीछे भोग की कामना रहती है। किन्तु कृष्ण को कोई अभिलाषा नहीं होती। वे तो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं और समस्त वस्तुओं से परिपूर्ण हैं। जब कृष्ण इस धराधाम पर आए थे, तो अनेक गोपियाँ उनकी सहचरी थीं और उनकी सोलह हजार से अधिक पत्नियाँ थीं। कुछ लोग सोचते हैं कि वे बहुत विलासी थे, किन्तु यह तथ्य नहीं है।

हमें कृष्ण के साथ सम्बन्धों के आशय को समझना चाहिए। इस भौतिक संसार में हमारे अनेक सम्बन्ध हैं, यथा पिता, माता, पत्नी या पति। यहाँ पर जितने भी सम्बन्ध हमें दिखते हैं, वे भगवान् के साथ हमारे सम्बन्ध के विकृत प्रतिबिम्ब मात्र हैं। इस भौतिक संसार में जो कुछ दिखता है, वह परम सत्य से उत्पन्न है, किन्तु यहाँ कालक्रम में वह विकृत रूप से प्रतिबिम्बित होता है। कृष्ण से हमारा जो भी सम्बन्ध है, वह चलता रहता है। यदि यह सम्बन्ध मित्रता का है, तो यह मित्रता शाश्वत है और जन्म-जन्मान्तर तक चलती रहती है। इस भौतिक संसार में मित्रता कुछ वर्षों तक चलती है और फिर टूट जाती है; इसीलिए इसे विकृत, अस्थायी या अवास्तविक कहते हैं। यदि हम कृष्ण से मित्रता स्थापित करें, तो वह कभी नहीं टूटेगी। यदि हम कृष्ण को अपना स्वामी बना लें, तो हम कभी धोखा नहीं खाएँगे। यदि हम कृष्ण को पुत्र के रूप में प्यार करें, तो वे कभी नहीं मरेंगे। यदि हम

कृष्ण से अपने प्रियतम के रूप में प्रेम करें, तो वे सर्वोत्तम होंगे और उनसे हमारा वियोग नहीं होगा। परम भगवान् होने के कारण कृष्ण अनन्त हैं और उनके भक्त भी अनन्त हैं। कुछ लोग उन्हें प्रेमी या पति के रूप में प्रेम करने का प्रयास करते हैं, अतः कृष्ण यह भूमिका स्वीकार करते हैं। हम चाहे जिस रूप में कृष्ण के पास जाएँ, वे हमें स्वीकार कर लेंगे, जैसा कि *भगवद्गीता* में वे कहते हैं :

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥

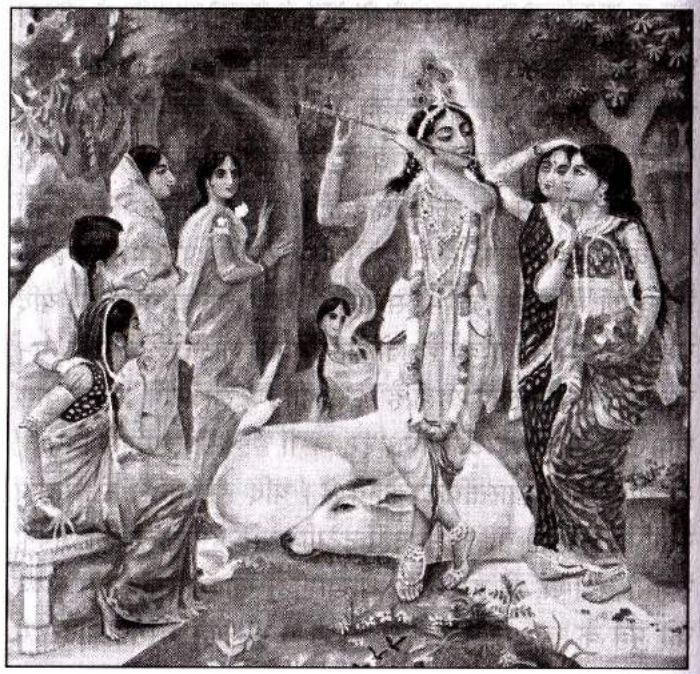

"जो जिस भाव से मेरी शरण ग्रहण करते हैं, मैं उसी के अनुरूप उन्हें फल देता हूँ। हे पार्थ, मनुष्य सब प्रकार से मात्र मेरे ही पथ का अनुगमन करता है।" (*भगवद्गीता* ४.११)

गोपियों ने श्रीकृष्ण को पति-रूप में प्राप्त करने के लिए पूर्वजन्म में कठिन तपस्याएं की थीं। इसी प्रकार *श्रीमद्भागवत* में शुकदेव गोस्वामी का कथन है कि कृष्ण के साथ खेलने वाले उनके साथियों ने कृष्ण को सखा-रूप में प्राप्त करने के लिए अपने पूर्व-जन्मों में कठिन तपस्याएं की थीं। इस प्रकार कृष्ण के खेल के संगी, सखा तथा पत्नियाँ सामान्य जीव नहीं थे। चूँकि हमें कृष्णभावनामृत का कोई ज्ञान नहीं है, अतः हम उनके कार्यकलापों को खिलवाड़ मान लेते हैं, किन्तु वास्तव में वे दिव्य हैं। हमारी इच्छाओं की पूर्ति तो होती है, किन्तु वैधानिक रूप से हमारी इच्छाएँ तभी पूर्ण हो सकेंगी, जब हम कृष्णभावनामृत को अपनाएँ।

कृष्ण को अपने साथ खेलने के लिए किसी मित्र की आवश्यकता नहीं थी, न ही उन्हें एक भी पत्नी की इच्छा थी। हम पत्नी ग्रहण करते हैं, क्योंकि हम कुछ इच्छा पूर्ण करना चाहते हैं, किन्तु कृष्ण को अपने आप में पूर्ण (*पूर्णम्*) हैं। निर्धन व्यक्ति की कामना रहती है कि बैंक में उसके एक हजार डालर हों, किन्तु लखपती व्यक्ति की ऐसी इच्छा नहीं होती। यदि कृष्ण पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं, तो फिर उनमें इच्छाएँ क्यों होंगी? उल्टे, वे दूसरों की इच्छाओं की पूर्ति करने वाले हैं। मनुष्य इच्छा करता है और ईश्वर उसे पूरा करते हैं। यदि कृष्ण कोई इच्छा

रखते, तो इसका अर्थ है कि वे अपूर्ण होते क्योंकि उनके पास किसी वस्तु का अभाव होता। इसीलिए उनका कथन है कि उन्हें किसी इच्छा की पूर्ति नहीं करनी होती। योगेश्वर अर्थात् योगियों के ईश्वर के रूप में वे जो भी इच्छा करते हैं, उसकी पूर्ति तत्काल हो जाती है। इच्छा करने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। वे अपने भक्तों की इच्छाओं की पूर्ति के लिए ही पति, प्रेमी या मित्र बनते हैं। यदि हम कृष्ण को मित्र, स्वामी, पुत्र या प्रेमी के रूप में स्वीकार करें, तो हम कभी भी हताश नहीं होंगे। प्रत्येक जीव का कृष्ण के साथ विशिष्ट सम्बन्ध है, किन्तु इस समय वह सम्बन्ध प्रच्छन्न है। कृष्णभावनामृत में प्रगति करते ही वह प्रकट हो जाएगा।

यद्यपि भगवान् पूर्ण हैं और उन्हें कुछ भी नहीं करना होता, किन्तु आदर्श स्थापित करने के लिए वे कार्य करते हैं। वे इस जगत में अपने कार्यकलापों से बँधे नहीं रहते और जो इसे जानता है, वह भी कर्म के फल से मुक्त हो जाता है।

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्॥

"प्राचीनकाल में सब मुमुक्षु पुरुषों ने इसी ज्ञान के साथ कर्म करके मुक्ति-लाभ प्राप्त किया है। अतएव पूर्वजों की भाँति इस दिव्य चेतना से युक्त होकर तुम भी अपना कर्त्तव्य पूर्ण करो।" (*भगवद्गीता* ४.१५)

कृष्णभावनामृत का पालन करने के लिए यह आवश्यक है कि उन महान् आचार्यों के पदचिह्नों पर चला जाये, जिन्होंने

आध्यात्मिक जीवन में सफलता प्राप्त की है। यदि कोई महान् आचार्यों, ऋषियों, भक्तों, तथा प्रबुद्ध राजाओं द्वारा प्रस्तुत आदर्शों के अनुसार कार्य करे, जिन्होंने अपने जीवन में कर्मयोग का पालन किया है, तो वह भी मुक्त हो जाएगा।

कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में युद्धकर्म में संलग्न होने से उत्पन्न बंधन में फंस जाने के कारण अर्जुन अत्यन्त भयभीत थे। अतः कृष्ण ने उन्हें आश्वस्त किया कि यदि वे भगवान् के निमित्त लड़ते हैं, तो बन्धन की कोई सम्भावना नहीं है।

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥

"कर्म क्या है और अकर्म क्या है, इसका निर्णय करने में बुद्धिमान भी भ्रमित हो जाते हैं। मैं तुम्हारे लिए अब उस कर्मतत्त्व का वर्णन करूँगा, जिसे जानकर तुम सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो जाओगे।" (*भगवद्गीता* ४.१६)

वास्तव में, लोग इस बात से भ्रमित हो जाते हैं कि कर्म क्या है और अकर्म क्या है। यहाँ पर कृष्ण इंगित करते हैं कि बड़े-बड़े विद्वान (*कवयः*) तक कर्म के विषय में मोहग्रस्त हो जाते हैं। यह जानना आवश्यक है कि कौन से कार्य सही हैं, और कौन से नहीं, कौन से प्रामाणिक हैं और कौन से नहीं, कौन से वर्जित हैं और कौन से नहीं। यदि हम कर्म के सिद्धान्त को समझ लें, तो हम भवबन्धन से मुक्त हो सकते हैं। अतः यह जानना आवश्यक है कि कर्म किस प्रकार किया जाये, जिससे इस भौतिक शरीर को जब हम छोड़ें, तो हमें दूसरा शरीर ग्रहण न

करना पड़े और हम आध्यात्मिक आकाश में प्रवेश करने के लिए मुक्त रहें। श्रीकृष्ण ने समुचित कर्म के सिद्धान्त का स्पष्ट उल्लेख *भगवद्गीता* के ग्यारहवें अध्याय के अन्तिम श्लोक में किया है।

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥

"हे अर्जुन, जो मनुष्य पूर्वकृत कर्मों के संदूषण और मानसिक तर्कवितर्क से मुक्त होकर मेरी शुद्ध भक्तिमय सेवा में तल्लीन रहता है तथा प्राणीमात्र का मित्र है, वह निस्सन्देह मुझको ही प्राप्त होता है।" (*भगवद्गीता* ११.५५)

भगवद्गीता के सार को समझने के लिए यही एक श्लोक पर्याप्त है। मनुष्य को "मेरे कर्म" में लगा रहना चाहिए। और यह कर्म क्या है? यह *भगवद्गीता* (१८.६६) के अन्तिम उपदेश में बताया गया है, जिसमें कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि तुम मेरी शरण में आओ।

अर्जुन के उदाहरण से हमें यह सीखना चाहिए कि हम वही कर्म करें जिसकी स्वीकृति कृष्ण द्वारा की गई हो। मानव-जीवन का यही उद्देश्य है, किन्तु हम इसे नहीं जानते। अज्ञानवश हम उन कर्मों मे लगे रहते हैं, जो देहात्मबुद्धि अथवा भौतिकतावाद से सम्बन्धित होते हैं। कृष्ण चाहते थे कि अर्जुन युद्ध करे और यद्यपि अर्जुन युद्ध नहीं करना चाह रहे थे, किन्तु उन्होंने युद्ध किया क्योंकि कृष्ण की यही इच्छा थी। हमें इस उदाहरण का अनुसरण करना सीखना चाहिए।

अर्जुन क्या करे, उसे यह बताने के लिए, निस्सन्देह,

श्रीकृष्ण उपस्थित थे, किन्तु हमें बताने के लिए कौन है? श्रीकृष्ण प्रत्यक्ष रूप से अर्जुन को अमुक-अमुक विधि से कर्म करने का निर्देश दे रहे थे, किन्तु मात्र इसलिए कि कृष्ण हमारे सम्मुख अब स्वयं उपस्थित नहीं हैं, हमें यह नहीं मान लेना चाहिए कि हमारे लिए कोई निर्देश नहीं है। निस्सन्देह, हमारे लिए निर्देश है। *भगवद्गीता* के अन्तिम अध्याय में करने योग्य कर्म का उल्लेख है।

य इदं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः॥
न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि॥

"जो इस परम रहस्य को भक्तों को समझाएगा, उसके लिए भक्तिमय सेवा की प्राप्ति निश्चित है और अन्त में वह मेरे पास लौट आएगा। उससे अधिक प्रिय मेरा सेवक न तो इस संसार में कोई है और न कभी होगा।" (*भगवद्गीता* १८.६८-६९)

अतः यह हमारा दायित्व है कि हम *भगवद्गीता* की विधि का उपदेश देकर लोगों को कृष्णभावनाभावित बनाएं। वस्तुतः लोग कृष्णभावनामृत के अभाव के कारण कष्ट भोग रहे हैं। सम्पूर्ण विश्व के लाभ हेतु कृष्ण-तत्त्वज्ञान का प्रसार करने में हम सभी को लग जाना चाहिए। भगवान् चैतन्य महाप्रभु का आविर्भाव कृष्णभावनामृत को सिखाने के इसी उद्देश्य के लिए हुआ था। उन्होंने बताया कि यदि कोई कृष्णभावनामृत की शिक्षा देता है तो उसे आध्यात्मिक गुरु मानना चाहिए, चाहे उसकी

स्थिति कुछ भी क्यों न हो। *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* दोनों ही ग्रंथ कृष्णभावनामय कैसे बना जा सकता है, इस के ज्ञान से भरे पड़े हैं। भगवान् चैतन्य महाप्रभु ने इन दोनों ग्रंथों को चुना और संसार के सभी लोगों से अनुरोध किया कि वे इस कृष्ण तत्त्वज्ञान को नगर-नगर और गाँव-गाँव में फैलाएँ। भगवान् चैतन्य महाप्रभु साक्षात् कृष्ण थे और हमें इस कथन को कृष्ण का निर्देश मानकर समुचित कार्य करना चाहिए। किन्तु हमें सतर्क रहकर *भगवद्गीता* को यथारूप में, बिना व्यक्तिगत व्याख्या या प्रयोजन के प्रस्तुत करना होगा। कुछ लोग *भगवद्गीता* की व्याख्या प्रस्तुत करते हैं, किन्तु हमें श्रीकृष्ण के वचनों को यथारूप प्रस्तुत करना चाहिए।

जो कृष्ण के लिए कर्म करता है, वह भले ही भौतिक संसार के अन्य व्यक्तियों की भाँति काम करता हुआ लगे, किन्तु ऐसा होता नहीं है। भले ही अर्जुन ने सामान्य योद्धा की तरह युद्ध किया हो, किन्तु कृष्णभावनामृत में रहकर लड़ने के कारण वे अपने कर्मों के बन्धन से मुक्त थे। इस प्रकार उनका कर्म भौतिक प्रतीत होते हुए भी तनिक भी भौतिक न था। कृष्ण द्वारा अनुमोदित कोई भी कार्य फल से बँधा नहीं होता। भले ही युद्ध उत्तम कार्य न हो, किन्तु कभी-कभी कुरुक्षेत्र के युद्ध की तरह यह अनिवार्य हो जाता है। इसके विपरीत, ऐसा कार्य जो संसार की दृष्टि में अत्यन्त मानवीय तथा परोपकारमय हो, भौतिक बन्धन से युक्त हो सकता है। अतः कर्म उतना महत्त्वपूर्ण नहीं जितनी कि वह चेतना जिसमें यह कर्म किया जा रहा है।

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः॥

"कर्म की गहनता को जानना अति कठिन है, अतएव कर्म, विकर्म और अकर्म के स्वरूप को भली-भाँति जानना चाहिए।" (*भगवद्गीता* ४.१७)

कर्म का पथ अत्यन्त जटिल है, अतः हमें *कर्म, अकर्म* तथा *विकर्म* का अन्तर समझना चाहिए। यदि हम केवल कृष्ण-भावनामृत में लग जाएँ, तो प्रत्येक बात स्पष्ट हो जाती है। अन्यथा बन्धन में न फँसने के लिए हमें क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए—इन दोनों में अन्तर करना होगा। सामान्य जीवन में हम अनजाने ही किसी नियम को तोड़ देते हैं, जिससे हमें उसका परिणाम भुगतना होता है। इसी प्रकार प्रकृति के नियम अत्यन्त कठोर एवं अकाट्य हैं और उनमें कोई बहाना नहीं चलता। प्रकृति का यह नियम है कि अग्नि जलाती है, और यदि बच्चा भी उसे छू लेता है, तो वह अबोध और दोषरहित होने पर भी जल जाता है। अतः हमें अपने कर्म का पथ अत्यन्त सावधानी के साथ चुनना होगा, अन्यथा प्रकृति के कठोर नियम हमें बाँध कर कष्ट पहुँचाएँगे। इसलिए यह ज़ानना आवश्यक है कि कौन-सा कर्म किया जाये और किससे बचा जाये।

कर्म शब्द निर्धारित कर्त्तव्यों का सूचक है। *विकर्म* शब्द उन कार्यों का सूचक है, जो मनुष्य के निर्धारित कर्त्तव्यों के विरुद्ध हैं। *अकर्म* शब्द उन कार्यों का सूचक है, जिनका कोई फल नहीं होता। अकर्म कार्य करने पर हमें कुछ परिणाम होते प्रतीत हो

सकते हैं, किन्तु वास्तव में कोई परिणाम नहीं होता। जब हम कृष्ण के निर्देशानुसार कर्म करते हैं, तो वास्तव में ऐसी ही स्थिति होती है—अर्थात् कोई परिणाम नहीं होता। यदि हम किसी की हत्या करने की ठान लें, तो राज्य की सरकार हमें प्राणदण्ड दे सकती है। ऐसे में हमारे कर्म *विकर्म* कहलाते हैं, क्योंकि वे निर्दिष्ट कर्मों के विरुद्ध हैं। किन्तु यदि सरकार हमें सेना में भर्ती कर ले और हम युद्ध में लड़ते हुए किसी का वध कर दें, तो हमें फल नहीं भोगने पड़ते और इसे अकर्म कहते हैं। पहली अवस्था में हम अपनी सनक के अनुसार कर्म करते होते हैं और दूसरी में सरकार के निर्देशानुसार कर्म करते हैं। इसी प्रकार जब हम कृष्ण के निर्देशानुसार कर्म करते हैं, तो हमारे कार्य अकर्म कहलाते हैं, क्योंकि इस प्रकार के कर्म का कोई फल नहीं होता।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥

"जो कर्म में अकर्म को देखता है और अकर्म में कर्म को देखता है, वह पुरुष मनुष्यों में बुद्धिमान है और सब प्रकार के कर्मों में प्रवृत्त होने पर भी वह दिव्य पद पर होता है।" (*भगवद्गीता* ४.१८)

जो वास्तव में यह देख सकता है कि कर्मों के करने पर भी कर्मफल नहीं होते तथा जो *अकर्म* की प्रकृति को समझता है, वह वस्तुओं को वास्तविक रूप में देखता है। *अकर्मणि* शब्द उस व्यक्ति का सूचक है, जो कर्मों के फल से बचना चाहता है। अपने कर्मों को कृष्णभावनामृत से जोड़ने पर समस्त प्रकार के

कर्मों को करते रहने पर भी मनुष्य मुक्त रहता है। कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि में अर्जुन युद्ध कर रहे थे और दुर्योधन के पक्ष के सारे योद्धा भी लड़ रहे थे। हमें यह समझ लेना चाहिए कि अर्जुन क्यों बन्धन से मुक्त हैं, जबकि दुर्योधन नहीं है। बाह्य रूप से हम देख सकते हैं कि दोनों पक्ष के लोग युद्ध में संलग्न हैं, किन्तु हमें समझ लेना चाहिए कि अर्जुन कर्मफल से मुक्त हैं क्योंकि वे कृष्ण की आज्ञा से युद्ध कर रहे हैं। अतः जब हम किसी को कृष्णभावनामृत में कर्म करते देखें, तो हमें यह जान लेना चाहिए कि उसके कर्म का कोई फल नहीं है। जो ऐसे कर्म को देख और समझ सकता है, उसे अत्यन्त बुद्धिमान समझना चाहिए (*स बुद्धिमान्*)। अतः किसी मनुष्य को कर्म करते हुए यह देखना उतना महत्त्वपूर्ण नहीं कि वह क्या कर रहा है, जितना कि यह जान लेना कि वह कर्म क्यों कर रहा है।

वास्तव में युद्धभूमि में अर्जुन अत्यन्त अप्रिय कर्म में संलग्न थे, किन्तु कृष्णभावनाभावित होने के कारण उन्हें फल भोगना नहीं पड़ा। हम कोई ऐसा कर्म कर सकते हैं जो हमारी दृष्टि में अत्युत्तम हो, किन्तु यदि वह कर्म कृष्णभावनामृत में नहीं किया जा रहा है, तो हमें फल भोगना पड़ता है। भौतिक दृष्टि से अर्जुन का युद्ध न करने का प्रारम्भिक निर्णय उत्तम था, किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से वह ऐसा नहीं था। जब हम कोई पुण्यकार्य करते हैं, तो हमें उसके कुछ परिणाम प्राप्त होते हैं। हम किसी अच्छे कुल में—ब्राह्मण या धनवान व्यक्ति के कुल में—जन्म ग्रहण कर सकते हैं, हम अत्यन्त धनी या विद्वान बन सकते हैं

अथवा हम अत्यन्त सुन्दर हो सकते हैं। इसके विपरीत, जब हम अपवित्र कर्म करते हैं, तो हमें किसी निम्न-कुल में या पशुयोनि में जन्म लेना पड़ सकता है अथवा हम निरक्षर या मूर्ख बन सकते हैं या अत्यन्त कुरूप हो सकते हैं। भले ही हम पुण्यकर्म करें और उत्तम जन्म लें, फिर भी हम पर कार्य तथा कर्मफल के कठोर नियम लागू होंगे। हमारा मुख्य ध्येय इस भौतिक जगत के नियमों से छुटकारा पाना होना चाहिए। यदि हम इस बात को नहीं समझ पाते, तो हम उच्च कुल, सम्पत्ति, उत्तम शिक्षा या सुन्दर शरीर के प्रति आकृष्ट होते रहेंगे। हमें यह समझ लेना होगा कि भौतिक जीवन की इन समस्त सुविधाओं के होते हुए भी हम जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि से मुक्त नहीं हैं। हमें इससे सावधान करने के लिए श्रीकृष्ण *भगवद्गीता* में कहते हैं :

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥

"हे अर्जुन, इस भौतिक जगत में उच्चतम लोक से लेकर निम्नतम लोक तक सारे स्थान कष्टमय हैं, जहाँ जन्म-मरण का चक्र चलता रहता है।" (*भगवद्गीता* ८.१६)

भौतिक ब्रह्माण्ड के सर्वोच्च लोक, ब्रह्मलोक तक में जन्म तथा मृत्यु की पुनरावृत्ति विद्यमान है। इनसे छुटकारा पाने के लिए हमें कृष्णलोक जाना पड़ेगा। धनवान अथवा रूपवान मनुष्य होना अच्छा है, किन्तु कब तक हम ऐसे बने रहेंगे? यह हमारा स्थायी जीवन नहीं है। हम पचास, साठ या अधिक से अधिक सौ वर्ष तक बुद्धिमान, धनवान या रूपवान बने रह सकते हैं, किन्तु

वास्तविक जीवन पचास, सौ, हजार अथवा दस लाख वर्षों तक नहीं है। हम नित्य हैं और हमें अपना नित्य जीवन प्राप्त करना है। अभी तक हम ऐसा नहीं कर पाये, यही सारी समस्या है। यह समस्या तभी हल हो सकती है, जब हम कृष्णभावनायुक्त बन जाएँ।

यदि हम यह शरीर कृष्णभावनामृत में रहते हुए छोड़ें, तो हमें फिर से इस भौतिक जगत में वापस नहीं आना होगा। इस भौतिक जगत से पूरी तरह छुटकारा पाना ही मुख्य बात है। इस जगत में रहकर अपनी भौतिक स्थिति सुधारने की बात नहीं है। जेल में रहकर कोई कैदी अपनी स्थिति सुधारने के लिए प्रथम श्रेणी का बन्दी बनने की इच्छा कर सकता है और सरकार उसे प्रथम श्रेणी प्रदान कर भी सकती है, किन्तु कोई भी विचारवान पुरुष प्रथम श्रेणी का कैदी रहकर सन्तुष्ट नहीं होगा। उसकी इच्छा जेल से पूरी तरह से बाहर आने की होनी चाहिए। भौतिक जगत में हम में से कुछ लोग प्रथम श्रेणी के बन्दी हैं, तो कुछ द्वितीय या तृतीय श्रेणी के बन्दी हैं, किन्तु प्रत्येक दशा में हम सब हैं बन्दी ही। वास्तविक ज्ञान मात्र एम.ए. या पीएच.डी. की उपाधियाँ प्राप्त करने में नहीं, अपितु इस जगत की मूलभूत समस्याएँ समझने में है।

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥

"जिसके सब कर्म इन्द्रियतृप्ति की कामना से रहित हैं, उसको पूर्ण ज्ञानी समझा जाता है। उस कर्मी के सकाम कर्म ज्ञानरूपी

अग्नि में भस्म हो जाते हैं, ऐसा ऋषियों का कथन है।" (*भगवद्गीता* ४.१९)

पण्डितम् शब्द का अर्थ है विद्वान तथा *बुधाः* का अर्थ है प्रवीण या पटु। दशम अध्याय में भी *बुधाः* शब्द आया है (*बुधाः भावसमन्विताः—भगवद्गीता* १०.८)। *भगवद्गीता* के अनुसार कोई मनुष्य इसलिए विद्वान नहीं होता कि उसने किसी विश्वविद्यालय में प्रचुर शिक्षा प्राप्त की है, अपितु विद्वान वह है जो प्रत्येक वस्तु को समभाव से देख सकता है।

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

"विनयसम्पन्न साधु पुरुष वास्तविक ज्ञान के बल पर विद्या-विनय युक्त ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ते तथा चण्डाल को समान दृष्टि से देखता है।" (*भगवद्गीता* ५.१८)

वैदिक सभ्यता के अनुसार भारत में विद्वान ब्राह्मण को मानव-समाज में सर्वोपरि माना जाता है। विद्वान तथा भद्र मनुष्य, जो पंडित कहलाता है, ऐसे ब्राह्मण को और कुत्ते अथवा कुत्ते खाने वाले चण्डाल को समान स्तर पर देखता है। दूसरे शब्दों में, वह उच्चतम तथा निम्नतम में कोई अन्तर नहीं देखता। तो क्या इसका अर्थ यह हुआ कि एक विद्वान ब्राह्मण होना एक कुत्ता होने से बढ़कर नहीं है? नहीं, इसका अर्थ यह नहीं है। पंडित उन्हें समभाव से इसलिए देखता है, क्योंकि वह उनकी चमड़ी को नहीं, वरन् आत्मा को देखता है। पंडित उसे समझा जाता है, जिसने प्रत्येक जीवात्मा में एक ही आत्मा देखने की पटुता प्राप्त

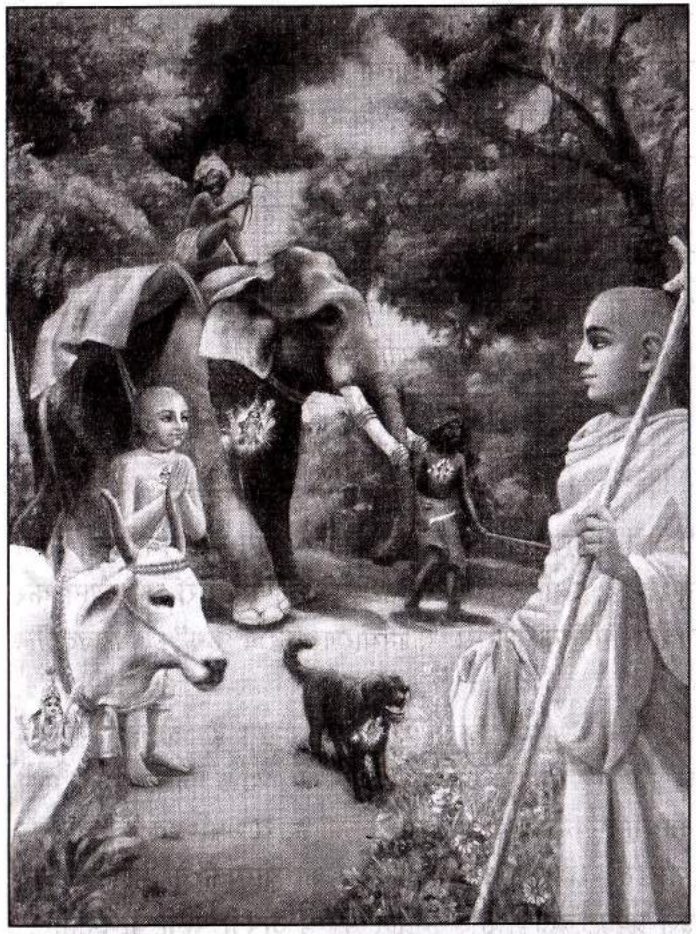

"विनयसम्पन्न साधु पुरुष, वास्तविक ज्ञान के बल पर, विद्या-विनय युक्त ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ते तथा चण्डाल को समान दृष्टि से देखता है।" (भगवद्गीता ५.१८)

कर ली है, क्योंकि वास्तव में प्रत्येक जीव एक आध्यात्मिक स्फुलिंग है, जोकि पूर्ण आत्मा का एक अंश है। आध्यात्मिक स्फुलिंग सभी में एक सा है, किन्तु विभिन्न वस्त्रों से आच्छादित रहता है। एक सम्माननीय व्यक्ति अत्यन्त मैले कुचैले वस्त्रों में हो सकता है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि उसका अनादर किया जाये। *भगवद्गीता* में इन भौतिक शरीरों की तुलना उन वस्त्रों से की गई है, जिन्हें जीवात्मा धारण करता है।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्य्
अन्यानि संयाति नवानि देही॥

"जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्याग कर नये वस्त्र धारण करता है, उसी प्रकार आत्मा पुराने जीर्ण शरीरों को त्याग कर नवीन भौतिक शरीरों को धारण करता है।" (*भगवद्गीता* २.२२)

जब भी हम किसी जीव को देखते हैं, तो हमें सोचना चाहिए कि "यह आत्मा है।" जो व्यक्ति जीवन की ऐसी आध्यात्मिक दृष्टि को समझ सकता है, वह पण्डित है। चाणक्य *पण्डित* ने शिक्षा अथवा पण्डित की योग्यता के मानदण्ड को इस प्रकार बताया है, "विद्वान मनुष्य अपनी पत्नी के अतिरिक्त समस्त स्त्रियों को अपनी माता के समान, समस्त भौतिक सम्पत्ति को गली में पड़े कूड़े के समान और अन्यों के दु:खों को अपने दु:खों के समान मानता है।" भगवान् बुद्ध ने हमें शिक्षा दी है

कि हम पशुओं को वाणी या कार्य तक से पीड़ित न करें। यह पण्डित की योग्यता है और यही जीवन का मानदण्ड होना चाहिए। इसलिए किसी व्यक्ति को शिक्षित समझने के लिए उसकी जीवन-दृष्टि और उसीके अनुसार किए गए कर्म को

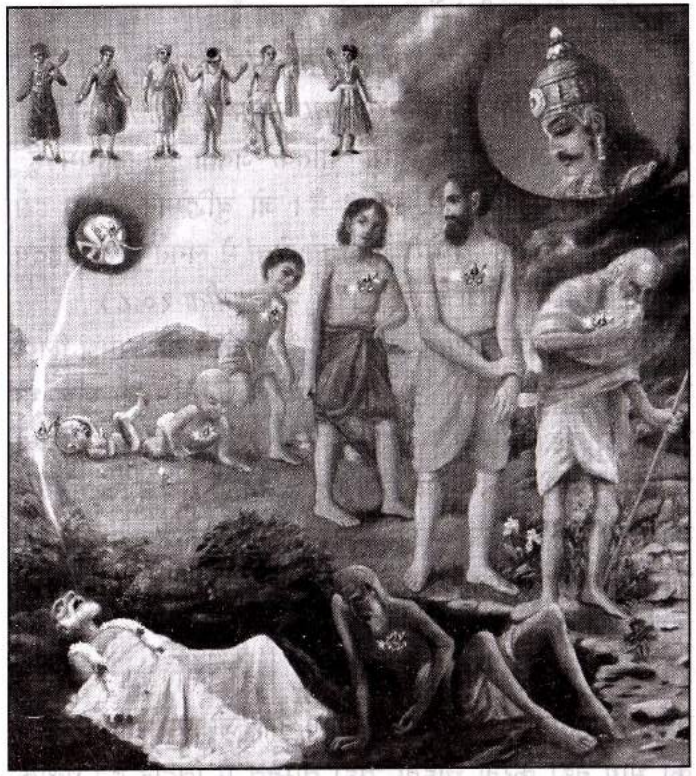

"जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्याग कर नये वस्त्र धारण करता है, उसी प्रकार आत्मा पुराने जीर्ण शरीरों को त्याग कर नवीन भौतिक शरीरों को धारण करता है।" (भगवद्गीता २.२२)

देखना चाहिए, न कि उसकी शैक्षिक उपाधियों को। *भगवद्गीता* से पण्डित शब्द का यही भाव निकलता है। इसी प्रकार *बुधाः* शब्द भी विशेषरूप से उसके लिए आया है, जो शास्त्रों के अध्ययन में प्रवीण हो। ऐसे बोध एवं शास्त्रीय ज्ञान के परिणामों का वर्णन *भगवद्गीता* में इस प्रकार हुआ है :

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥

"मैं समस्त आध्यात्मिक तथा भौतिक जगतों का उद्गम हूँ। प्रत्येक वस्तु मुझ ही से उद्भूत है। जो बुद्धिमान मनुष्य इसे भलीभाँति जानते हैं, वे मेरी भक्तिमय सेवा में लगते हैं तथा हृदय से पूरी तरह मेरी पूजा करते हैं।" (*भगवद्गीता* १०.८)

प्रवीण व्यक्ति अथवा *बुधाः* वह है, जिसने यह समझ लिया है कि कृष्ण ही समस्त निर्गमों के उद्गम हैं। हम जो कुछ भी देखते हैं, वह श्रीकृष्ण से उद्भूत है। न जाने कितने लाखों वर्षों से सूर्य से सूर्य-प्रकाश निकलता रहा है, किन्तु सूर्य आज भी वैसे का वैसा ही है। इसी प्रकार समस्त भौतिक तथा आध्यात्मिक शक्तियाँ कृष्ण से प्रकट होती हैं। इसे जान लेने पर मनुष्य कृष्ण का भक्त बन जाता है।

इस प्रकार जिस मनुष्य को यह पता है कि उसे कृष्णभावनामृत में कर्म करना चाहिए और जो इस भौतिक जगत का भोग नहीं करना चाहता, वही वास्तव में विद्वान है। प्रत्येक व्यक्ति इस भौतिक जगत में कामवश कर्म करता है, किन्तु जो बुद्धिमान होता है वह अपने को इस *काम* के आदेशों से मुक्त

रखता है (*काम-संकल्प-वर्जिताः*)। यह किस प्रकार सम्भव है? *ज्ञानाग्निदग्धकर्माणम्*—ज्ञान की अग्नि सारे पापकर्मों के फलों को जला देती है। यही सबसे प्रबल शुद्धकारी है। हमारे जीवन की सार्थकता तभी तक है, जब तक हम कृष्णभावनामृत के दिव्य ज्ञान अर्थात् इस राजविद्या को प्राप्त करने का प्रयास करते रहें।